पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।
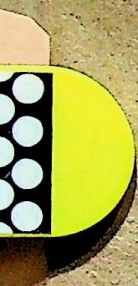
निवेदन

इस पुस्तक में १९ जीवनचरितों का संग्रह है। ये चरित समय समय पर सरस्वती में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशन का समय प्रत्येक चरित के अन्त में दे दिया गया है। इन चरितों के चार विभाग किये जा सकते हैं। यथा—

(१) कवि, लेखक, हिन्दी के हितैषी, सम्पादक, विद्वान् इतिहासवेत्ता और वक्ता।

(२) शाह, शाहंशाह, सुल्तान और अमीर

(३) राजनीतिज्ञ और राजकीय-उच्चपदाधिकारी

(४) नूतन-धर्म्म-प्रवर्त्तक

ये सब चरित इस क्रम से इस पुस्तक में रखे गये हैं। इस क्रम से लिखे जाने के समय का भी ख़याल रखा गया है। अर्थात् आगे पीछे जो चरित जिस समय लिखा गया है उसी समय के अनुसार उसे स्थान दिया गया है।

मासिक पुस्तकों में प्रकाशित चरित कालान्तर में अप्राप्य नो दुष्प्राप्य, अवश्य ही हो जाते हैं। मिस्टर जैन वैद्य, [illegible] दुर्गाप्रसाद मिश्र और लाल बलदेवसिंह आदि ने, [illegible] समय में, साहित्य-सम्बन्धी जो काम किया वह [illegible] योग्य नहीं। परन्तु साधनों के अभाव में, वह दिन

पर दिन विस्तृत सा होता जारहा है। अतएव ऐसे सत्पुरुषों की कीर्त्ति का जो गान समय पर हुआ था वह पुस्तक-विशेष में निबद्ध होजाने से सहज हो सुना और जाना जा सकता है।

यही बात और भी प्रसिद्ध पुरुषों के विषय में चरितार्थ है। वाजिदअली शाह का चरित कितनी ही पुस्तकों में प्रकाशित अवश्य हो चुका है; परन्तु इस पुस्तक में उनके विषय में जो कुछ लिखा गया है, सम्भव है, उसका प्राप्ति-स्थान ऐसा हो जिस तक औरों की पहुँच न हो सकी हो; अतएव, क्या आश्चर्य, जो उसमें कुछ न कुछ नवीनता हो। रहे राजकीय पुरुष, सो उच्चपदस्थ होनेके कारण अपने अपने समय में वे ऐसे अनेक काम कर गये हैं जिनसे बहुत कुछ शिक्षा-प्राप्ति हो सकती है। बादशाहों और अमीरों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उनके चरितों के पाठ और परिशीलन से और कुछ नहीं तो थोड़ा बहुत मनोरंजन तो अवश्य ही हो सकता है। अतएव उनका एकत्रीकरण और प्रकाशन भी व्यर्थ नहीं।

पुस्तकान्त में जिस धर्म्माधिष्ठाता का चरित्र रक्खा गया है उसके अध्यवसाय और उसके कार्य्यकौशल की महत्ता उसी लेख के अवलोकन ही से अच्छी तरह ध्यान में आजाने योग्य है।

दौलतपुर. रायबरेली
३ जून १९२९ } —महावीरप्रसाद द्विवेदी

—

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१ - राजा कमलानन्दसिंह	...	२
२ - लाल बलदेवसिंह	...	२०
३—मिस्टर जैन वैद्य	...	२४
४—पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र	...	२८
५—सेंट निहालसिंह	...	३३
६—काशिनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग	...	४३
७—डबल्यू सी० बानर्जी	...	५४
८—इतिहासवेत्ता विश्वनाथ काशिनाथ राजवाड़े		६४
९—सुल्तान अब्दुल-अजीज़	...	७१
१०—अमीर हबीबुल्लाख़ाँ	...	७८
११—फारिस के शाह मुजफ़्फरुद्दीन	...	८५
१२—हबशीराज मैन्यलिक	...	९५
१३—परलोकवासी मिकाड़ो मुत्सू-हीटो	...	१०२
१४—वाजिदअली शाह	...	१११
१५—मारक्विस ईटो	...	१४४
१६—जनरल कुरोपाटकिन	...	१४९
१७—सर विलियम वेडरबर्न	...	१५५
१८—एडमिरल वॉन टिरपिज़	...	१६४
१९—मुक्ति-फ़ौज के अधिष्ठाता जनरल बूथ	...	१६८

——

चरित-चित्रण

१—राजा कमलानन्दसिंह

*निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।

—कालिदास ।

ऊपर का यह श्लोकार्द्ध हमने लिख तो दिया; परन्तु इच्छा होती है कि निकाल कर—

"कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।"

इसे उसके स्थान में रख दें। यह भी कालिदास ही की उक्ति है।

---

*लक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर स्वाभाविक वैर है। वे कभी पास पास नहीं रहतीं। परन्तु, इस राजा में, वे दोनों ही एकत्र हो गई हैं।

इसमें कविकुल-शिरोमणि एक राजा की प्रशंसा में कहते हैं कि—और हज़ारहा पृथ्वीपति हों तो हुआ करें; पृथ्वी तो इसी के जन्म से राजन्वती है। जिस पृथ्वी का राजा अच्छा होता है वह राजन्वती कहलाती है। अतएव सुराजा का होना पृथ्वी अथवा देश का सौभाग्य है। परन्तु, नहीं, हम दूसरे श्लोकार्द्ध को यहाँ पर प्रधानता नहीं दे सकते। क्योंकि, विद्वान् न होकर भी अनेक पृथ्वीपति सुराजे हुए हैं। सुराजा होना विशेष आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु राजा के लिए श्रीमान् होकर विद्वान् भी होना विशेष आश्चर्य की बात है। आश्चर्य की बात दूसरे देशों के लिए नहीं। योरप, अमेरिका और जापान आदि के अनेक राजवर्ग पण्डित भी हैं; उनकी धन-सम्पन्नता का तो कुछ कहना ही नहीं। इस देश में भी बङ्ग, महाराष्ट्र और मदरास-प्रदेश के लिए यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इन प्रदेशों के पृथ्वीपतियों में भो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों सपत्नी-भाव छोड़कर प्रायः साथ ही साथ रहती हैं। आश्चर्य की बात विशेष करके उन प्रान्तों के लिए है जहाँ, अपने पुत्रों से परित्याग की हुई विषण्ण-वदना हिन्दी वास करती है। उसका कोई स्वामी ही नहीं। गवर्नमेंट को यदि हिन्दी का स्वामी मानें तो वह स्वयं उसे नापसन्द करेगी। गवर्नमेंट का नाम लेते ही सपत्नी उर्दू का स्मरण उसे हो आवेगा। इस दशा में कोई स्त्री प्रसन्न नहीं रह सकती। अतएव स्वामि-हीन और पुत्र-हीन अभागिनी हिन्दो जहाँ बोली जाती है वहाँ के किसी राजा, महाराजा अथवा ताल्लुक़ेदार में यदि लक्ष्मी के साथ सरस्वती भी आ रहे तो अवश्य आश्चर्य की बात है।

हिन्दी बोलनेवाले राजों में भी कई राजे विद्वान हैं; परन्तु हिन्दी के नहीं। हिन्दी उनके लिए प्रायः अस्पृश्य है। कुछ ऐसे

भी हैं जिनको हिन्दी से प्रेम है; परन्तु उसे लिखने-पढ़ने का उनसे स्वयं श्रम नहीं होता। लिखना भी कई प्रकार का है। उन प्रकारों को बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इस देश में इस अनाथ, इस अपुत्रिणी और इस रुग्ण हिन्दी नाम की हमारी मातृभाषा के आँसू पोंछनेवाले यदि दो-एक सच्चे पुण्यात्मा पुरुष देख पड़ें, और यदि वे लक्ष्मोवान् भी हों, तो अवश्य आश्चर्य को बात है। सन्तोष की बात है और आनन्द की बात है कि श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंह ऐसे ही हैं। वे हिन्दी का प्रचार करनेवालों की सहायता करते हैं, वे हिन्दी लिखनेवालों की सहायता करते हैं; वे स्वयं हिन्दी लिखते हैं, वे कविता करते हैं, वे पुस्तकें लिखते हैं, और पुस्तकों को छपाकर प्रकाशित भी करते हैं। इतना ही नहीं, वे हिन्दी लिखनेवालों को उत्साह भी देते हैं। उनके इन्हीं गुणों का विचार करके हमने उनका संक्षिप्त चरित सुनाना उचित समझा है।

सूबे बिहार के अन्तर्गत भागलपुर की कमिश्नरी में, बनैली, सरावत और सोनबरसा आदि कई रियासतें हैं। उनमें से श्रीनगर भी एक है। श्रीमान् कमलानन्दसिंह वहीं के राजा हैं। श्रीनगर उनकी राजधानी है। श्रीनगर पूर्णिया ज़िले में है। पूर्णिया कलकत्ते से २२० मील है। उसके उत्तर में नेपाल और दार्जिलिङ्ग; पूर्व में मालदह, दिनाजपुर, जल्पाईगुरी, दक्षिण में गङ्गा और पश्चिम में भागलपुर है। पूर्णिया २६°-३५′ रेखांश और ८०°-३३′ अक्षांश के बीच में है। अतएव श्रीनगर की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। उस प्रान्त की बोली हिन्दी है।

श्रीनगर उस प्रान्त में है जिसे मिथिला अर्थात् तिरहुत कहते हैं। वहाँ, किसी समय, राजा जनक का राज्य था । राजा भोज ने चम्पू-रामायण में मिथिला की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि समुद्र जिस पृथ्वी का दुकूल है; सुमेरु सिंहासन है; गङ्गा हार है; आदि-बराह विष्णु की दंष्ट्रा क्रीड़ा-शैल है; जानकी की जननी, उसी पृथ्वी का, मिथिला प्रदेश, सूतिकागार अर्थात् प्रसूति-घर है । पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने सामवत नाटक नाम का एक ग्रन्थ, संस्कृत में, लिखा है। उस में उन्होंने भी मिथिला की बड़ी बड़ाई की है। वे लिखते हैं—

मित्राणां सहकारेण सहकारतरुव्रजे ।
गायन्ति रसिका यत्र गितिर्विद्यापतेः कवेः ।।

अर्थात् मित्रों के साथ, आम के वृक्षों के कुंज में बैठे हुए, रसिक लोग जहाँ कविवर विद्यापति की कविता को प्रेम से गाते हैं।

मिथिला में पहले ही से विद्वान् होते आये हैं। मैथिलों को स्वभाव ही से विद्या की रुचि होती है । किसी समय तर्क-शास्त्र में मिथिला प्रदेश अपनी समता नहीं रखता था। वहाँ कविता की भी अधिक चर्चा रहती है । वङ्गनिवासियों ने विद्यापति को यद्यपि अपना कवि मान लिया है, तथापि वे शुद्ध वङ्गभाषा के कवि नहीं कहे जा सकते। उनकी वासभूमि मिथिला है जहाँ की भाषा हिन्दी है; बँगला नहीं। अतएव विद्यापति पर हिन्दी बोलनेवालों का अधिकार बँगला बोलने वालों की अपेक्षा अधिक है।

इसी तर्क-प्रिय, इसी काव्य-प्रिय और इसी पवित्र मानी गई मिथिला-भूमि के पूर्व कौशिकी नदी से १० मील, पूर्णिया ज़िले के अन्तर्गत, बनैली नामक एक स्थान है। वहीं, किसी समय, राजा कमलानन्दसिंह के पूर्वज निवास करते थे। उस समय वह विशेष शोभा-सम्पन्न था। अनेक विद्वानों और धनवानों ने उसका आश्रय लिया था। वहीं के वत्सवंशावतंस यजुर्वेदीय मैथिल ब्राह्मण बाबू दुलारसिंह ने निवास कर अपना सुयश और सुप्रताप सर्वत्र फैलाया।

जिस समय नेपाल की सीमा के मारेङ्ग प्रदेश के लिए नेपालियों और अँगरेज़ों में विरोध उत्पन्न हुआ उस समय बाबू दुलारसिंह ने अँगरेज़ों को बहुत सहायता दी। उन्हीं के प्रबन्ध, उन्हीं की दूरदर्शिता और उन्हीं की चतुराई से शीघ्र ही विरोध-भाव दूर हो गया। यदि वे इस विषय में सहायता न देते तो शायद सन्धि न होती और सन्धि न होने से रणाग्नि प्रज्वलित हुए बिना न रहती। इस सहाय, इस कार्य्य-कुशलता के उपलक्ष्य में अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने, १८११ ईसवी में, उन्हें राजा-बहादुर की पदवी दी। तब से वे राजा दुलारसिंह बहादुर कहलाने लगे। उस समय से उनके प्रताप और ऐश्वर्य्य की दैनिन्दन वृद्धि होने लगी।

राजा दुलारसिंह के दो पुत्र हुए। वेदानन्दसिंह और रुद्रानन्दसिंह। उनकी सन्तति का ठीक परिचय होने के लिए आगे दी हुई वंश-मालिका देखिए।

राजा दुलारसिंह के पुत्र वेदानन्दसिंह और रुद्रानन्दसिंह एक माता से न थे। परन्तु राजा दुलारसिंह के परलोकगामी

राजा दुलारसिंह बहादुर
राजा रुद्रानन्दसिंह
राजा वेदानन्दसिंह
राजेश्वरी
विन्धेश्वरी
तेजानन्दसिंह
मोदानन्दसिंह
श्रीनन्दसिंह
राजा नीलानन्दसिंह
कालिकानन्दसिंह
(श्रीनगर)
कमलानन्दसिंह
(श्रीनगर)
कीर्त्यानन्दसिंह
(चम्पानगर)
कमलानन्दसिंह
(चम्पानगर)
पद्मानन्दसिंह
(रामनगर)

होने के अनन्तर, कुछ काल तक दोनों भाइयों में परस्पर प्रीति-भाव बना रहा। पर यह बात बहुत दिन तक न रह सकी। थोड़े ही दिनों बाद विरोध उत्पन्न हुआ, जिसका फल यह हुआ कि राज्य बँट गया और दोनों भाई अपना-अपना भाग हस्तगत करके अलग-अलग राज्य करने लगे।

राजा वेदानन्दसिंह के एकमात्र पुत्र लीलानन्दसिंह हुए। राजा लीलानन्दसिंह के तीन पुत्र हुए—पद्मानन्दसिंह, कमलानन्दसिंह और कीर्त्यानन्दसिंह। इनमें से राजा पद्मानन्दसिंह एक माता से और शेष दो भाई दूसरी माता से हैं। विरोध ने इनका भी पीछा न छोड़ा। उसने बनैली के पूर्वार्जित राज्य के पुनर्वार विभाग कराये। राजा पद्मानन्दसिंह अपने विभाग का स्वामित्व प्राप्त करके बनैली से आठ मील पश्चिम रामनगर में इस समय निवास करते हैं। उनके सौतेले भाई श्रीमान् कमलानन्दसिंह और कीर्त्यानन्दसिंह रामनगर के पास ही चम्पानगर में रहते हैं। दोनों विभागों के अधिकारी अपने अपने राज्य का काम दक्षतापूर्वक करते हैं। यह प्रशंसा की बात है।

राजा दुलारसिंह के दूसरे पुत्र राजा रुद्रानन्दसिंह, थोड़ी ही अवस्था में, अल्पायु हो गये। उनके परलोक-गमन के समय उनके तीन पुत्र और दो कन्यायें थीं। उनके नाम ऊपर वंश-मालिका में देखिए। ईश्वरीय कोप से, उनकी मृत्यु के अनन्तर, थोड़े ही दिनों में उनके दो लड़के भी न रहे; और दोनों लड़कियाँ भी परलोक-वासिनी हुईं। इस डूबते हुए वंश के कर्णधार एकमात्र श्रीनन्दसिंहजी बच गये। परन्तु इन लगातार आपत्तियों की परम्परा के कारण श्रीनन्दसिंहजी के आत्मीयों और कुटुम्बियों ने बनैली का रहना अच्छा न समझ

उसे छोड़ देना चाहा। इसलिए उससे थोड़ी ही दूर पर एक नवीन स्थान बनाकर वहीं अल्पवयस्क श्रीनन्दसिंह को लेकर सब लोग रहने लगे। यह नगर श्रीनन्दसिंह ही के नाम से बसाया गया। अतएव इसका नाम श्रीनगर हुआ। यही श्रीनगर राजा कमलानन्दसिंह की राजधानी है।

राजा श्रीनन्दसिंह को यह लोक छोड़े कई वर्ष हुए; परन्तु उनकी कीर्ति अब तक विद्यमान है। उन्होंने बड़ी योग्यता से राज्य किया और अनेक लोकोपकारी काम वे कर गये। उनका सब से अच्छा काम यह है कि उन्होंने अपनी राजधानी में एक संस्कृत-पाठशाला स्थापित करके उसमें सब शास्त्रों के अध्यापक रक्खे। जितने लड़के इस पाठशाला में पढ़ते थे उन सबको वे भोजन-वस्त्र देते थे। आवश्यकता होने पर वे उनको पुस्तकें तक ले देते थे। जो विद्यार्थी वहाँ का अध्ययन समाप्त कर चुकते थे उनको वे काशी अथवा नवद्वीप भेजते थे। जब वे वहाँ से कृतविद्य होकर लौटते थे तब उनकी जीविका का प्रबन्ध भी वे कर देते थे। राजा श्रीनन्दसिंह को अपनी प्रजा के सुख-दुखों का भी सर्वदा ध्यान रहता था। उनके लाभ के लिए उन्होंने, जहाँ-जहाँ आवश्यकता थी वहाँ-वहाँ, अनेक कुवे और तालाब खुदवाकर जल का कष्ट दूर कर दिया। अतिथियों के आराम के लिए एक अतिथि-शाला भी उन्होंने बनवाई। एक हरिमन्दिर भी उन्होंने निर्म्माण कराया। इन बातों से उनकी धर्म्मनिष्ठा और उनकी प्रजावत्सलता भली-भाँति प्रकट होती है।

राजा श्रीनन्दसिंह की तीसरी धर्मपत्नी से दो कुमार हुए। एक श्रीयुत कमलानन्दसिंह, दूसरे कालिकानन्दसिंह।

इस लेख में श्रीमान् कमलानन्दसिंह ही का स्वल्प चरित लिखा जायगा।

राजा कमलानन्दसिंह के चरित के सम्बन्ध में जो काग़ज़-पत्र हमारे पास हैं, उनमें उनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल ६, सोमवार संवत् १९३२, लिखा है। यह देखने के लिए कि इस दिन कौन तारीख़ थी, हमने पञ्चाङ्ग निकाला तो हमें विदित हुआ कि ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी (सं० १९३२) के दिन सोमवार न था। इसलिए हमने दो-एक वर्ष इधर-उधर के पञ्चाङ्ग देखना आरम्भ किया। ऐसा करने से संवत् १९३३ की ज्येष्ठ शुक्ल-षष्ठी के दिन हमें सोमवार मिला। इसलिए हम समझते हैं कि राजा साहब का जन्म संवत् १९३३ का है; संवत् १९३२ का नहीं। ज्येष्ठ-शुक्ल-षष्ठी, सोमवार, संवत् १९३३ को, मई १८७६ की २९ तारीख़ थी। उसी दिन उनका जन्म हुआ। अर्थात् इस समय राजा साहब की उम्र कुल २७ वर्ष की है।

राजा कमलानन्दसिंह पाँच ही वर्ष के थे जब उनके पिता का देहान्त हुआ। छठे वर्ष उनका विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। लिखने-पढ़ने में थोड़ा अभ्यास हो जाने पर चाणक्य की राज्य-नीति और अमरकोश उनको पढ़ाया गया। कालिदास ने रघु-वंश में, राजा रघु के विद्याध्ययन के विषय में, लिखा है—

लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं
नदीमुखेनेव समुद्र माविशत् ॥

अर्थात् लिपि-अक्षरमालिका—को ग्रहण करके उसकी सहायता से, नदी के मुख में पड़ कर समुद्र में प्रवेश करने के समान, रघु ने वाङ्मय—रूपी रत्नाकर में प्रवेश किया। यही उपमा राजा कमलानन्दसिंह के लिए भी दी जा सकती है। अक्षर-

ज्ञान के उपरान्त ही वे भी चाणक्य और अमरसिंह के वाङ्-मय में प्रविष्ट हुए। इन ग्रन्थों के साथ-साथ उनको फ़ारसी की भी शिक्षा दी जाती रही। ९ वर्ष की अवस्था तक वे राज-भवन ही में विद्याध्ययन करते रहे। तदनन्तर अँगरेज़ी के एक अध्यापक नियत किये गये। उनसे उन्होंने एक वर्ष तक अँगरेज़ी पढ़ी। जब कुछ अँगरेज़ी में ज्ञान हो गया तब उन्होंने पूर्णिया के ज़िला स्कूल में अपना नाम लिखाया। वहाँ वे दो वर्ष तक पढ़ते रहे।

बारहवें वर्ष उनका यज्ञोपवीत हुआ। उस समय बाबू मन्मथनाथ, बी० एल०, नामक एक विद्वान् बङ्गाली सज्जन उनके रक्षक अथवा निरीक्षक नियत किये गये। उन्हीं की अध्यक्षता में पढ़ने के लिए वे भागलपुर गये और वहाँ के ज़िला स्कूल में उन्होंने अध्ययन आरम्भ किया। फ़ारसी में उनकी बहुत कुछ गति हो गई थी; परन्तु उससे उन्हें विशेष रुचि न थी। अतएव वहाँ उन्होंने अपनी दूसरी भाषा संस्कृत रक्खी।

जिस समय राजा साहब भागलपुर के ज़िला स्कूल में पढ़ते थे उस समय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास वहाँ प्रधान पण्डित थे। उनकी विद्वत्ता, उनका काव्य-कौशल और उनकी मधुमयी वक्तृता सुनकर राजा साहब को हिन्दी-कविता सीखने की बलवती उत्कण्ठा हुई। यह अभिलाषा उन्होंने अपने निरीक्षक बाबू मन्मथनाथ पर प्रकट की। ये महाशय बङ्गाली थे। हिन्दी-काव्य से ये सर्वथा अनभिज्ञ थे। उसके गुणदोषादि का उन्हें कुछ भी ज्ञान न था। अतएव वे इस बात से सम्मत न हुए। उन्होंने राजा साहब को बँगला-काव्य पढ़ने की सम्मति दी। राजा साहब उनकी सम्मति को मान कर बँगला-काव्य

का अभ्यास करने लगे और थोड़े ही दिनों में बहुत कुछ योग्यता प्राप्त करली। पाठशाला की पाठ्य-पुस्तकों और विषयों को यथा-समय पढ़ कर, बचे हुए समय को, काव्यालाप में लगाना रसज्ञता का लक्षण है। राजा कमलानन्दसिंहजी ने इस रसज्ञता के लक्षण पहले ही से प्रकट किये।

राजासाहब की अनुमति से पण्डित श्रीकान्त मिश्र ने "साम्ब कमलानन्द-कुलरत्नम्" नामक एक काव्य लिखा है। उसके पारितोषिक में राजा साहब ने तीन हज़ार रुपये और कुछ ज़मीन दी है। यह काव्य संस्कृत में है। इसमें पन्द्रह सर्ग हैं। राजा कमलानन्दसिंह के पूर्वजों का चरित, राजा-दुलारसिंह से लेकर, उसमें वर्णन किया गया है। स्वय राजा कमलानन्दसिंह की भी कोई बीस-बाइस वष तक की अवस्था का चरित उसमें है। परन्तु श्रीकान्तजी ने अपने काव्य में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया कि पण्डित अम्बिकादत्त के सहवास से राजा साहब की चित्तवृत्ति में क्या परिवर्तन हुआ। राजा साहब के साहित्यानुराग के सम्बन्ध में भी कहीं कुछ नहीं कहा गया। यह आश्चर्य की बात है। पण्डित अम्बिका-दत्त व्यास के विषय में यद्यपि श्रीकान्तजी ने कुछ नहीं कहा तथापि, अपने काव्य के सम्बन्ध में उनसे उन्होंने एक सर्टि-फ़िकेट (प्रशंसापत्र) अवश्य लिया है। उन्होंने कई प्रसिद्ध पण्डितों के सर्टिफ़िकेट अपनी पुस्तक के अन्त में छापे हैं। उन में आश्विन-शुक्ल आठ, शनिवार, संवत् १९५५ का लिखा हुआ व्यासजी का भी एक सर्टिफ़िकेट है; और सबसे वही विषेश सरस और मनोहर है। उसे हम यहाँ देना उचित समझते हैं—

श्रीकान्तमिश्ररचितं रुचिरं सुबन्ध
श्रीकान्तमेतदतिसुन्दरमस्ति काव्यम् ।
श्रीकान्तपत्तनपतिः परितोषमेतु
श्रीकान्तमेवमहमद्य निवेदयामि ॥

अर्थात् श्रीकान्त मिश्र का रचा हुआ, रचना-सौन्दर्य सुशोभित यह रुचिर काव्य अत्यन्त सुन्दर है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि (इसे देखकर) श्रीनगर-नरेश परितुष्ट हों। इस श्लोक की रचना में जो मनोहरता है वह तो हुई है; इसमें एक व्यङ्ग्य भी है जो सहृदय पाठकों के ध्यान में सहज ही आ जायगा। परन्तु ऐसा अच्छा सर्टिफ़िकेट देनेवाले की कोई बात श्रीकान्तजी ने अपने काव्य में नहीं लिखी। हमने उनकी पुस्तक को बहुत ही सरसरी तौर से पढ़ा है। इसलिए, सम्भव है उन्होंने उस विषय में कुछ लिखा हो; परन्तु हमारे ध्यान में न आया हो। यदि यह सम्भावना सत्य निकले तो हम श्रीकान्तजी से, पहले ही से, क्षमा माँग रखते हैं।

१६ वर्ष के वय में राजा साहब प्रवेशिका (एन्ट्रन्स) क्लास में पहुँचे। जब परीक्षा का समय निकट आया तब वे बहुत मन लगाकर, वित्त बाहर, परिश्रम करने लगे। दुर्दैव-वश इस परिश्रम का फल बुरा हुआ। इसी से वे परीक्षा भी न दे सके और शरीर—सम्पत्ति भी उनकी बिगड़ गई। सिर में दर्द रहने लगा। बहुत उपाय करने पर भी पूरी पूरी नीरोगता न प्राप्त हुई। इसलिए डाक्टरों की सम्मति से आपको जलवायु-परिवर्तन और शीत-प्रधान स्थानों में भ्रमण के लिए निकलना पड़ा। दो वर्ष तक वे इस देश के पहाड़ी स्थानों में घूमते रहे। इस यात्रा में उन्होंने अनेक नगर देखे। इससे उनको बहुत

लाभ हुआ; शिरोरोग भी जाता रहा और अनेक महात्मा, विद्वान् और शिष्ट जनों से मिलकर उन्हें अनेक प्रकार की शिक्षायें भी मिलीं। भिन्न भिन्न प्रदेशों का चाल-चलन, रीति-भाँति और आचार-व्यवहार देखकर उनको विशेष बहुदर्शिता भी प्राप्त हुई।

अब तक राजा साहब का राज्य कोर्ट आव् वार्ड्स अर्थात् सरकारी प्रबन्ध के अधीन था। १८९९ ईसवी में गवर्नमेंट ने अपना प्रबन्ध उठा लिया, परन्तु उस समय राजा साहब वयस्क न थे, नाबालिग़ थे। अतएव राज्य का काम-काज उनकी माता करने लगीं। इस स्थिति में ज़िले के प्रधान हाकिम राज्य-कार्य की देखभाल करते रहे। राजा साहब की इच्छा आगे पढ़ने की थी; परन्तु रियासत के प्रबन्ध का भार उनकी माता पर पड़ने से उनकी सहायता की आवश्यकता हुई। अतएव यथा-साध्य वे उनकी सहायता करने लगे और इच्छा होते हुए भी अधिक दिन स्कूल में न रह सके। उसे उन्हें छोड़ना पड़ा। तथापि विद्या का व्यासङ्ग उन्होंने नहीं छोड़ा। घर ही पर वे हिन्दी, संस्कृत और अँगरेज़ी ग्रन्थों का अवलोकन करके अपनी बहुज्ञता बढ़ाते रहे। कुछ दिनों से आपकी रुचि अँगरेज़ी-साहित्य की ओर से कम हो गई है; परन्तु हिन्दी पर आपकी प्रीति प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है। स्कूल छोड़ कर आपने हिन्दी भाषा के अच्छे-अच्छे काव्य पढ़े। संस्कृत के शास्त्रज्ञ पण्डितों को अपने आश्रय में रक्खा। इस तरह, यथावकाश, हिन्दी और संस्कृतकाव्यों का बहुत कुछ मर्म उन्होंने जान लिया। काव्यों का आस्वादन करते-करते, थोड़े ही दिनों में, आपने इस विषय में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

यथासमय आपको अपने राज्य के पूरे अधिकार प्राप्त हुए। तबसे राज्य के जटिल कार्य्यों में यद्यपि आपका बहुत समय जाता है, तथापि अपने प्रिय विषय साहित्य को आप नहीं भूलते। उसके लिए थोड़ा-बहुत समय आप निकाल ही लेते हैं।

साहित्य में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास से आपने बहुत कुछ सीखा। उनका आदर भी आप अत्यधिक करते थे। व्यासजी के गुणों पर मोहित होकर हज़ारों रुपये, बहुमूल्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और बहुमूल्य शस्त्र देकर राजा साहब ने अपनी गुण-ग्राहकता की पराकाष्ठा दिखलाई। व्यासजी को सोने के पदक भी उन्होंने दिये। इतना करके भी, जान पड़ता है, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि राजा साहब ने व्यासजी को गजेन्द्र-दान तक दिया है। राजा साहब की विद्याभिरुचि को धन्य! उनकी गुण-ग्राहकता को धन्य! उनकी दानशीलता को धन्य!

व्यासजी के बनाये हुए साहित्य-विषयक एक संस्कृत-ग्रन्थ का अवलोकन करके राजा कमलानन्दसिंहजी बहुत प्रसन्न हुए प्रसन्न क्या, उसकी विलक्षणता को देखकर स्वयं वे और उनकी सभा के सभी पण्डित चकित से हो गये। अतएव राजा साहब ने व्यासजी को, उसे हिन्दी में लिखने के लिए, सूचना दी। व्यासजी ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया और "सुकवि-सरोज विकास" नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया। परन्तु उसके समाप्त होने में थोड़ा ही अंश शेष था कि १९ नवम्बर १९०० ईसवी को व्यासजी ने इस संसार को सर्वदा के लिए छोड़ दिया। यह ग्रन्थ व्यासजी ने अपने और राजा

साहब के नाम पर बनाया है। कविता में व्यासजी अपना नाम 'सुकवि' और राजा साहब 'सरोज' लिखते हैं। इसलिए इसका नाम "सुकवि-सरोज-विकास" हुआ। १९०० ईसवी में जब हम काशी गये थे तब व्यासजी ने इस पुस्तक की भूमिका हमको बड़े प्रेम से पढ़ कर सुनाई थी। इस भूमिका में अनेक प्राचीन कवियों की बातें थीं। सारी भूमिका पद्य में थी। सुनते हैं, राजा साहब इस ग्रन्थ के शेष भाग को पूरा करने का स्वयं प्रयत्न कर रहे हैं। एवमस्तु।

व्यासजी पर राजा साहब का इतना प्रेम था। उन पर इतनी कृपा थी कि उनके न रहने पर उनकी निःसहाय स्त्री और पुत्र के जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने दो सौ रुपये वार्षिक नियत कर दिये हैं। क्यों न हो—

अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति

जिसे सत्पुरुष एक बार अङ्गीकार कर लेते हैं उसे वे फिर कदापि नहीं छोड़ते; उसके परिपालन में वे सदैव ही तत्पर रहते हैं। राजा साहब तो 'अङ्गीकृत' के अङ्गीकृतों का परिपालन करते हैं; अतएव उनके सौजन्य का क्या कहना है।

इलाहाबाद की कमिश्नरी में एक ज़िला फतेहपुर है। इस ज़िले में गङ्गा के तट पर एक गाँव असनी नामक है। उसमें हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। नरहरि और हरिनाथ इत्यादि कवि वहीं के निवासी थे। वहीं के रहनेवाले सेवक-राम कवि का बनाया हुआ वाग्विलास नामक ग्रन्थ प्रायः लुप्त सा था। उसे बड़े प्रयत्न से, बहुत द्रव्य व्यय करके, राजा कमलानन्दसिंह ने प्राप्त किया और छपाया भी है। राजा साहब के साहित्य-प्रेम का यह उत्तम उदाहरण है।

महाराज अयोध्या के यहाँ एक कवि हैं । उनका नाम है कविवर लछीरामजी । सुनते हैं, उन्होंने बारह वर्ष परिश्रम करके कमलानन्द-कल्पतरु नामक एक ग्रन्थ बनाया। उसमें अलङ्कारों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के नाम में "कल्पतरु" शब्द ध्यान रखने योग्य है। कविजी की इच्छा सफल हुई है। उनका नामकरण सार्थक हुआ है। वे इस पुस्तक को लेकर देवोपूजा के उत्सव पर श्रीनगर पधारे। वहाँ उन्होंने उसे राजा साहब को समर्पित किया। अयोध्या-नरेश के दरबार में प्रतिष्ठा पाये हुए कवि का राजा साहब ने अच्छा सम्मान किया। उनकी पुस्तक की कविता भी सुनी और उसको स्वीकार भी किया। स्वीकार करके आपने कवीश्वरजी को १५०० रुपये और बहुमूल्यक वस्त्राभरण दकर अपनी कल्पतरुता का परिचय दिया।

कविवर लछीराम ने १२ वर्ष परिश्रम किया। इतना परिश्रम उठा कर आपने पुस्तक किस विषय की लिखी? अलङ्कार-विषय की! हम प्रार्थनापूर्वक पूछते हैं कि "रस कुसुमाकर" ने काव्य-साहित्य अथवा हिन्दी-साहित्य की कितने अंगुल उन्नति की थी, और जसवन्त-जसोभूषण ने उसे कितने हाथ ऊँचा उठाया था, जो लछीरामजी ने अलङ्कार-शास्त्र की और थोड़ी वृद्धि कर डाली। जड़-चेतनमय इस विश्व में इतने पदार्थ भरे पड़े हैं कि यदि करोड़ों कवीश्वर उत्पन्न हों तो भी वे सब न वर्णन किये जा सकें। फिर हम नहीं जानते कि कवीश्वर लोग अलङ्कार और नायिकाओं के क्यों इतना पीछे पड़े हुए हैं? उन्हें और कोई विषय क्यों नहीं मिलता? संस्कृत में सैकड़ों उत्तमोत्तम काव्य हैं। परन्तु अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी दो ही चार ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इसका उलटा है।

काव्य-ग्रन्थों की नामावली तो प्रायः शून्य है। दो एक हुए भी तो क्या? परन्तु अलङ्कार-विषयक ग्रन्थ अनेक हैं। अलङ्कारों का जिनमें वर्णन होता है वे लक्षण-ग्रन्थ कहलाते हैं। और काव्य जिनमें वे अलङ्कार पाये जाते हैं, लक्ष्य-ग्रन्थ कहलाते हैं। कवियों को चाहिए कि पहले लक्ष्य ग्रन्थ बनावें। जब ऐसे दस पाँच ग्रन्थ हो जायँ तब उनके शब्दों और अर्थों की रुचिरता के लक्षण और उदाहरण समझाने का परिश्रम करें। बारह बारह वर्ष तक हिमालय खोद कर, अन्त में, कोई अल्पोपयोगी वस्तु निकालना व्यर्थ श्रम करना है। जो बड़े बड़े लक्षण-ग्रन्थ बना सकता है, सम्भव है, वह लक्ष्य-ग्रन्थ भी बना सके। अतएव उसे उचित कार्य में अपनी विद्वत्ता को लगाना चाहिए।

अलङ्कार और नायिका-भेद के ग्रन्थों को स्वीकार करने और उनकी रचना करनेवालों को पुरस्कार देने में राजा कमलानन्दसिंह पर कोई दोष नहीं आसकता। यह उनकी उदारता का जाज्वल्यमान प्रमाण है जो ऐसे अनुपयोगी ग्रन्थों के बनानेवालों को भी, उनके परिश्रम के उपलक्ष्य में, वे हज़ारों रुपये दे डालते हैं। यदि उनकी इच्छा के अनुकूल कोई उपयोगी ग्रन्थ लिख कर उन्हें भेंट करे तो, न जानें, वे उसे क्या दे डालें! उनकी विद्याभिरुचि और उनकी गुणग्रहणता हमारे राजा-महाराजों के लिए आदर्श हो रही है।

राजासाहब ने नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को दो हज़ार रुपये दिये हैं। सभा की प्रर्थना पर आपने 'ट्रस्टी' का पद भी ग्रहण किया है। आपने अपनी राजधानी श्रीनगर में एक "हिन्दी-प्रचारक साहित्यसमाज" स्थापित किया है। हम यह भी सुनते हैं कि हिन्दी के सुलेखकों को उत्साह देने के लिए आप उनकी सहायता, समय समय पर, द्रव्य से भी

किया करते हैं। कई विद्यार्थी, आपकी सहायता से काशी में विद्याध्ययन करते हैं। वहाँ आपने एक घर विद्यार्थियों ही के लिए ले रक्खा है।

राजा कमलानन्दसिंह हिन्दी के सिवा अँगरेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी और बँगला के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आप में सब से अधिक प्रशंसा की बात यह है कि हिन्दी के आप स्वयं लेखक हैं। दरभङ्गा-नरेश महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह के परलोकगामी होने के शोक में आपने "मिथिला-चन्द्रास्त" लिखा है; पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के वियोग में "शोक-प्रकाश" लिखा है; और भारतेश्वर सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के उत्सव में "एडवर्ड-बत्तीसी" लिखी है। ये सब पुस्तकें छपकर प्रकाशित भी हो गई हैं। इस समय आप "साहित्य-सरोज-संहिता" नामक एक ग्रन्थ लिख रहे हैं। आपने दो-तीन उपन्यास भी लिखे हैं। उनमें से बङ्किम बाबू के 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास का अनुवाद भी है। वह, आजकल, छप रहा है। आशा है, दूसरे ग्रन्थ भी शीघ्र ही छप जायँगे।

राजासाहब के अनुज, श्रीकालिकानन्दसिंह, उनसे तीन वर्ष छोटे हैं। वे भी अँगरेज़ी और बँगला के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता हैं। शिल्प और सङ्गीत में तो वे बहुत ही प्रवीण हैं। धनवानों में उनकी इन दो विषयों में, समानता करनेवाले कोई विरले ही होंगे। वे काव्य तो नहीं करते, परन्तु काव्य के अनुरागी अवश्य हैं। उन्होंने श्रीनगर में एक मिडिल इङ्गलिश स्कूल स्थापित किया है। उसके अध्यापकों को वेतन और विद्यार्थियों को भोजनादिक वे अपने ही पास से देते हैं। इस पाठशाला के किसी विद्यार्थी से फ़ीस नहीं ली जाती। ये भी बड़े उदार और साथ ही बड़े दयालु हैं। अपने बड़े भाई

की सहकारिता में, दाहने हाथ के समान, ये सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं। इनमें और बड़े भाई में राम-लक्ष्मण का सा बन्धु-स्नेह है।

राजा कमलानन्दसिंह का समय यद्यपि काव्यालाप और विद्याव्यसन में अधिक व्यतीत होता है, तथापि वीरोचित कामों में भी आप पिछड़े हुए नहीं हैं। ऐसा कोई वर्ष नहीं जाता कि दो एक बाघों का शिकार आप न करते हों। आज तक आपने एक आरना और बीस इक्कीस बाघ मारे हैं।

राजा साहब का विवाह १८९३ ईसवी में हुआ। इस समय आपके दो कन्यायें और एक कुमार चिरञ्जीवि श्रीगङ्गानन्द-सिंह हैं।

श्रीमान् राजा कमलानन्दसिंहजी की चरितावली का विचार करके कहना पड़ता है कि विहार में इनके समान विद्यानुरागी, काव्यप्रेमी, क्षमाशील, दृढ़प्रतिज्ञ, उदार और उत्साही का नाम प्रायः सुनने में नहीं आता। हिन्दीहितैषिता के विषय में तो ये, इस देश के भूमि स्वामियों में, आदर्श हैं। इसीसे हमने आपका चरितगान करना उचित समझा।

श्रीहर्ष ने कहा है—

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्

अर्थात् जिस वस्तु अथवा जिस व्यक्ति में गुणों की अधिकता है उसके विषय में चुप रहना, ईश्वर को दी हुई वाणी को व्यर्थ करना है। जिस वाणी ने गुणवान् के गुणों का वर्णन न किया उसका होना ही निष्फल है। निष्फल ही नहीं, किन्तु हृदय में शल्य-बाण के अग्र-भाग के समान वेदना-दायक है।

(जून १९०३)

———

२--लाल बलदेवसिंह

लाल बलदेवसिंह को हिन्दी से सविशेष प्रेम था। उन्होंने अधिकारियों की प्रतिकूलता का ख़याल न करके बहुत दिनों तक "भारत-भ्राता" नामक साप्ताहिक पत्र को जारी रखा। हिन्दी के वे अच्छे अनुरागी थे; समाचारपत्रों से जो लाभ है उसे वे अच्छी तरह समझते थे। उनकी जीवन-सम्बन्धिनी दो-चार बातें, जो हमें मिली हैं, हम, यहाँ पर प्रकाशित करते हैं।

लाल बलदेवसिंह के पिता, भूतपूर्व रीवाँ-नरेश, महाराजा रघुराजसिंह, जी० सी० एस० आई० के समय में, उनके दीवान थे। उनको मुख़तियारुलरियासत का ख़िताब था। लाल बलदेवसिंह का जन्म, १८६८ ईसवी में, हुआ। कुछ काल तक

उन्होंने महाराज रीवाँ के साथ विद्याध्ययन किया; परन्तु पीछे से, घर ही पर, अँगरेज़ी, संस्कृत और हिन्दी का वे अभ्यास करने लगे; और इन भाषाओं में उन्होंने बहुत कुछ विज्ञता प्राप्त करली। जब उनके भाई लाल रमानुजप्रसाद-सिंह रीवाँ-राज्य के दीवान नियत हुए तब लाल बलदेवसिंह को वहाँ के कमाण्डर-इन चीफ़ अर्थात् प्रधान सेनानायक, का उच्च पद मिला। इसके सिवा राज्यसदन की देख-भाल भी वे रखते थे और महारानियों के काम-काज का भी प्रबन्ध उन्हीं के सिपुर्द था। सेनानायकत्व का काम उन्होंने बड़ी ही योग्यता से निबाहा; अन्त तक वे उस पद पर बने रहे।

लाल बलदेवसिंह को विद्या की अभिरुचि थी। उन्होंने अपने पुस्तकालय में अनेक उत्तमोत्तम और अलभ्य ग्रन्थ एकत्र किये। परन्तु हिन्दी से उनको सबसे अधिक प्रीति थी; उसको वे प्राणोपम प्यार करते थे। इसी प्रेम से प्रणोदित होकर उन्होंने "भारत भ्राता" नामक एक हिन्दी का छापाखाना रीवाँ में खोला। कुछ काल के अनन्तर इसी नाम का वे एक साप्ताहिक पत्र वहाँ से निकालने लगे। इस पत्र को उन्होंने बहुत दिनों तक यथाशक्य अच्छी तरह चलाया। मध्यभारत में "भारत भ्राता" ही एक समाचार पत्र था। जिन बातों से वह प्रजा का का हित समझता था उन्हें वह निडर होकर प्रकाशित करता था और जिनसे प्रजा का अहित था उनका उसमें युक्तिपूर्ण और सप्रमाण खण्डन रहता था; फिर चाहे उससे किसी को कितना ही बुरा क्यों न लगे। सुनते हैं; इसीलिए, कईबार लाल बलदेव-सिंह से 'भारत-भ्राता' बन्द करने के लिए प्रार्थना की गई; फिर उनको सूचना दी गई; बाद में उनको आज्ञा तक दी गई। परन्तु उन्होंने इन बातों का कुछ भी विचार न करके पत्र को

प्रचलित रक्खा। खेद है, उनकी यह दृढ़ता चिरकाल तक नहीं स्थिर रह सकी। उन पर, अन्त में, भारी दबाव डाला गया, जिसके कारण उन्हें 'भारत-भ्राता' को बन्द ही करना पड़ा। पुराना पत्र होने पर भी 'भारत-भ्राता' का यद्यपि कम प्रचार था, तथापि उसका ख़र्च भलीभाँति उसी से चला जाता था। अतएव उसके बन्द होने का कारण रुपये-पैसे की कमी न समझना चाहिए। लालसाहब ने इस पत्र को इसलिए न निकाला था कि वे उससे कुछ धनसम्बन्धी लाभ उठावें। 'भारत-भ्राता' का जन्म सर्वसाधारण के फ़ायदे के लिए हुआ था और जबतक वह जीवित रहा तबतक उसने इस उद्देश का निर्वाह भी किया।

१९०३ ईसवी में, रीवाँ में हैज़े का प्रचण्ड कोप हुआ। उससे पीड़ित होकर सैकड़ों आदमी काल की कुक्षि में धँस गये। लाल बलदेवसिंह के भी घर में उसने प्रवेश किया। उनकी पत्नी और बहन दोनों को हैज़ा होगया, परन्तु उन्होंने ऐसी दौड़-धूप की, उनके इलाज का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि वे आराम हो गईं। इसी ख़ुशी में उन्होंने मई महीने में एक उत्सव किया। उस उत्सव में ख़ूब हवन, पूजन और ब्राह्मण-भोजन हुए। बलिदान भी हुए। इसके दूसरे ही दिन लाल बलदेवसिंह पर भी हैज़े ने आक्रमण किया और उसीसे उनके जीवन को समाप्ति होगई। उनकी इस अकाल-मृत्यु से रीवाँ-राज्य में शोक छा गया। लाल बलदेवसिंह की मृत्यु के अनन्तर उनकी पत्नी देवरा चली गईं। उनका कुटुम्ब वहीं रहता था। वहाँ उनको दुबारा हैज़ा हुआ। इस बार उसने उनके प्राण लेकर ही छोड़े। एक प्रकार उनपर उसने यह कृपा ही की। इससे बहुत दिन तक उनको पति-वियोग नहीं सहन करना पड़ा। शीघ्र ही वे अपने पति की अनुगामिनी हुईं।

इस समय (१९०४ ईसवी में) सेनानायक के कुटुम्ब में उनका एक अल्पवयस्क पुत्र शेष है। प्रचलित रीति के अनुसार शायद इस बालक को यथा-समय रीवाँ का सेनानायकत्व मिले; क्योंकि, वहाँ ऐसे ऐसे पद पिता से पुत्र को वंशपरम्परागत प्राप्त होते हैं।

पण्डित भवानीदत्त जोशी, बी० ए०, ने लाल बलदेवसिंह की मृत्यु पर शोक-प्रकाशन करते हुए कुछ कविता की है। उसका एक पद्य हम नीचे उद्धृत करते हैं—

हाहा बघेलकुलदीपक हाय हाय !
हा देवराधिपति*के प्रिय बन्धु हाय !
हा राज्य के सकल-सैन्य-अधीश हाय !
हा बन्धवाधिपति के प्रिय भक्त हाय !

लाल बलदेवसिंह की बातों का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे सेना ही के नेता न थे। अपने प्रान्त की प्रजा के मत के भी नेता थे। सब लोग उनको सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनका स्वभाव बहुत सरल था; वे सदैव प्रसन्न-चित्त देख पड़ते थे। दया की मात्रा भी उनमें कम न थी। दान पात्रों को देने और साहाय्य की इच्छा रखनेवालों की सहायता करने में वे सदा तत्पर रहते थे। उनका व्यवहार और उनका आचरण प्रशंसनीय था। उनमें उपकारप्रियता विशेष रूप से विद्यमान थी। वे सुशील, मिष्ट-भाषी और सभा-चतुर भी थे। ऐसे गुणसम्पन्न पुरुष का इतनी थोड़ी उम्र में मरना बड़े खेद की बात है

[फरवरी १९०४

——

*"देवरा" श्रीमहाराजकुमार लाल रामानुजप्रसादसिंह, सी० आई० ई०, की जागीर है। वहीं पर इनका घर भी है।

३—मिस्टर जैन वैद्य

जयपुर के प्रसिद्ध विद्यारसिक और हिन्दी-हितैषी श्रीयुत जैन वैद्यजी अब इस जगत् में नहीं। अप्रैल १९०९ को उन्होंने इस असार-संसार को त्याग दिया। उनकी अकाल-मृत्यु से हम जैसे दुखी हुए हैं उसे लिख नहीं सकते। मरने के समय उनकी अवस्था सिर्फ़ अट्ठाईस उन्तीस वर्ष की थी।

जैन वैद्यजी का जन्म १८८० ईसवी में जयपुर नगर में, हुआ। वे दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैन थे। उनके वृद्ध पिता जयपुर-राज्य के तोशेख़ाने के अध्यक्ष हैं। जैन वैद्यजी का असली नाम जवाहरलाल था। परन्तु वे अपने को जैन वैद्य नाम ही से प्रसिद्ध करते थे।

जैन वैद्यजी ने स्कूल में केवल एन्ट्रेन्स क्लास तक शिक्षा पाई थी। परन्तु स्कूल छोड़ने के बाद उन्होंने घर पर ग्रन्थावलोकन के द्वारा अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। साथ ही साथ उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती और मागधी का भी उन्होंने थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लिया था। मासिक पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़ने का शौक़ उनको शुरू ही से था। मातृभाषा का प्रेम और विद्यारसिकता का अँकुर बाल्यावस्था ही से उनके हृदय में अङ्कुरित हो गया था। वह धीरे धीरे बढ़ता ही गया।

वे जैन धर्म की उन्नति और जैनियों का उपकार करने के लिए सदा व्यस्त रहते थे। वे जैनगैज़ट आदि पत्रों में समाज-हितकारी लेख अक्सर लिखा करते थे। उन्होंने जैनियों के उपकार के लिए उचितवक्ता, जैन और जैनप्रदीप नाम के पत्र भी निकाले थे। पर वे सर्वसाधारण की सहायता के अभाव के कारण चल न सके। उन्होंने जयपुर में एक जैन-अनाथालय भी खोला था, जो अब हिसार को उठ गया है। इसके सिवा उन्होंने एक जैन कन्या-पाठशाला भी स्थापित की थी। कितने ही जैन विद्यार्थियों को भोजन और वस्त्र देकर वे पढ़ाते थे। जैन मन्दिरों में जाकर जैन धर्म पर व्याख्यान भी देते थे और जैन कान्फरेंस आदि में भी शरीक होते थे।

एक देशी रियासत में रह कर भी जैन वैद्यजी देश-हित-सम्बन्धी कामों में बराबर शरीक होते थे। कांग्रेस के वे पक्षपाती थे। १९०४ ईसवी में, जब कांग्रेस बम्बई में हुई थी तब, उन्होंने उसके सभापति सर हेनरी काटन को कलाबत्तू की एक माला भेजी थी। उसे सर फ़ीरोजशाह मेहता ने अपने हाथ

से उन्हें पहनाया था। बनारस और कलकत्ते की कांग्रेसों की स्वागतकारिणी सभाओं के वे सभ्य थे। सुनते हैं, जयपुर में उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं की एक दूकान भी खोली थी।

श्रीयुत जैन वैद्यजी कितनी ही धार्मिक और साहित्य-सम्बन्धिनी सभाओं के सभासद् थे। उनमें से थियोसोफ़िकल सोसायटी, बम्बई टैम्परेन्स कौंसिल, रायल एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी और काशी की नागराक्षर-प्रचारिणी सभा मुख्य हैं। अन्यों की अपेक्षा काशी की सभा की वे विशेष रूप से सहायता करते थे। सभा के लिए उन्होंने सैकड़ों पुस्तकें खोजकर उनकी नोटिसें लिखवादी थीं। उसके डेपूटेशन को जयपुर बुलाकर बहुत कुछ आर्थिक सहायता दी और दिलवाई थी। सभा के भवन में सर एटोनी मेकडानल का जो तैल चित्र टँगा है वह जैन वैद्य महाशय ही का दिया हुआ है। वे सभा-समाजों ही की नहीं, किन्तु दरिद्र व्यक्तियों की भी अक्सर आर्थिक सहायता किया करते थे।

जैन वैद्यजी में सब से बड़ा गुण यह था कि वे हिन्दी के असाधारण प्रेमी थे। हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों के प्रचार के लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किया। उसके लिए उन्होंने बहुत कुछ धन भी ख़र्च किया। वे ख़ुद भी हिन्दी लिखते थे और औरों से भी लिखाते थे। अपनी छात्रावस्था में उन्होंने "कमल मोहिनी-भँवरसिंह नाटक", "व्याख्यान-प्रबन्धक" और "ज्ञान-वर्णमाला" नाम की तीन पुस्तकें लिखी थीं। इनके सिवा उन्होंने अन्य लेखकों के लिखे हुए दो ग्रन्थ भी प्रकाशित किये। कोई चार साल तक समालोचक नाम का एक अच्छा मासिक पत्र भी वे निकालते रहे थे। सच पूछिए तो हिन्दी-साहित्य में

उनकी कीर्ति को इसी पत्र ने फैलाया। इस पत्र को चार साल तक चलाने में बहुत घाटा उठाना पड़ा। अफ़सोस, हिन्दी बोलनेवालों ने जैसी चाहिए वैसी क़दर उसकी न की। समय समय पर जैन वैद्यजी ऐसी पुस्तिकायें और कवितायें भी छपा कर बाँटते थे जिनसे हिन्दी का प्रचार बढ़े। इस तरह की कविताओं में "हिन्दी क्या है" और 'नागरी" आदि कवितायें मुख्य हैं। जयपुर में नागरी का प्रचार करने के लिए उन्होंने कुछ दिन हुए, अपने मित्रों के साथ एक "नागरी-भवन" खोला था। यह भवन जैन वैद्यजी की यादगार का काम दे रहा है। आशा है कि जैन वैद्य के मित्र-गण उसे जीवित रख कर अपने स्वर्गीय बन्धु की कीर्त्ति चिरकाल तक स्थिर रक्खेंगे।

इन बातों से पाठक समझ सकते हैं कि श्रीयुत जैन वैद्यजी कितने विद्यानुरागी, विद्याप्रचारक, हिन्दी-प्रेमी, धार्मिक, उदार, परोपकारी और स्वदेशभक्त थे। उनके समान नम्र, अतिथि-सत्कार-परायण और मित्रवत्सल मनुष्य बहुत कम मिलेंगे।

(जूलाई १९०९)

४—पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र

पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र अब इस लोक में नहीं। नवम्बर १९१० में आप इस संसार से तिरोहित होगये। हिन्दी के आप पुराने लेखकों में थे। बड़े मधुरभाषी, बड़े मिलनसार, बड़े शिष्टाचार-परायण थे। हँसमुख और विनोदशील भी आप बड़े थे। कई दफ़े हमें आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हर दफ़े जी यही चाहता था कि इनके पास बैठे ही रहें। इनसे बात-चीत करने में बड़ा आनन्द आता था। कलकत्ते के हिन्दी-प्रेमियों ने आपकी यादगार बनी रखने के लिए कोई काम करना सोचा है। इसलिए एक कमेटी भी बन चुकी है। यह बात है। हिन्दी-कोविद-रत्नमाला से आपका संक्षिप्त चरित नीचे दिया जाता है।

काश्मीर की राजधानी जम्बू से बीस कोस पर जामवन्त की बेटी जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्णजी के पुत्र शाम्ब का बसाया हुआ साँवाँ नगर है। यही साँवाँ नगर पण्डित दुर्गाप्रसादजी की जन्मभूमि है। आप सूर्यवंश के आदि-पुरोहित वशिष्ठ-ऋषि-कुलोत्पन्न सारस्वत ब्राह्मण हैं। आपकी वंश-परम्परा उपाधि "राज्योपाध्याय" थी; परन्तु पंजाब में ब्राह्मण-मात्र को मिश्र कहते हैं। इसीसे इनके नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। इनके पिता का नाम पण्डित घसीटे-राम मिश्र था।

पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र का जन्म संवत् १९१६ की आश्विन शुक्ला नवमी बुधवार को हुआ था। वे दिन दुर्गा पूजा के थे। इससे आपका नाम दुर्गाप्रसाद रक्खा गया। पितामह आपके संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कर्मकाण्ड के प्रवीण पण्डित थे। वे सपरिवार जगदीश—दर्शन करने गये। वहाँ से लौट कर आते समय कलकत्ता-निवासी पंजाबी खत्रियों ने आप से कलकत्ते ही में रहने का अनुरोध किया। इसलिए वे भी वहीं रहने लगे। इनके तीन पुत्र थे। वे तीनों व्यवसायियों की बड़ी-बड़ी कोठियों में दलाली का काम करने लगे।

पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने बाल्यावस्था में डोगरी, हिन्दी और बँगला भाषाओं का अभ्यास घर ही पर किया। फिर काशी जाकर संस्कृत पढ़ी। इसके बाद फिर आप कलकत्ते चले गये। वहाँ नार्मल स्कूल में अँगरेजी का अभ्यास करने लगे। अँगरेजी में कुछ पढ़ने-लिखने का ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने स्कूल छोड़ दिया और अपने बड़ों की प्रेरणा के अनुसार दलाली का काम करने लगे। इस काम को उन्होंने कुशलता से किया।

और अपनी आय भी अच्छी बढ़ाई; पर चित्त की प्रवृत्ति इस ओर न होने से इन्होंने इस काम को शीघ्र ही छोड़ दिया। छात्रावस्था में दुर्गाप्रसादजी बँगला के समाचार पत्र बड़े प्रेम से पढ़ा करते थे और उस समय उनके चित्त में यह विचार उठता था कि यदि ऐसे ही पत्र हिन्दी में निकलें तो अच्छा हो। सौभाग्यवश उसी समय काशी से 'कविवचन-सुधा' नाम का पत्र प्रकाशित होने लगा और ये उसके संवाददाता बने। इसके अनन्तर पटने से "विहारबन्धु" का जन्म हुआ। इसके भी ये सहायक रहे। तब दलाली का काम छोड़कर, १७ मई १८७८ को, आपने हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "भारतमित्र" को प्रकाशित करना आरम्भ किया। परन्तु ग्राहकों के समय पर चन्दा न देने से, आर्थिक त्रुटि के कारण, इस पत्र का भार "भारतमित्र-सभा" को दे दिया।

इसके कुछ दिनों बाद स्वर्गीय पण्डित सदानन्द मिश्र के अनुरोध से इन्होंने "सारसुधा-निधि" नाम का एक पत्र निकाला। एक साल चलकर जब वह भी बन्द होगया, तब सन् १८८० में, केवल अपने बाहुबल के आश्रय पर "उचितवक्ता" पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया। "उचितवक्ता" ने हिन्दी-साहित्य में एक नया कर्तब कर दिखलाया। इस पत्र में गूढ़ राजनैतिक विषयों पर पण्डितजी के हँसी-दिल्लगी भरे लेख सर्वप्रिय और प्रभावजनक होते थे।

जम्बू-नरेश महाराज रणवीरसिंह पण्डितजी पर विशेष प्रेम रखते थे। उन्होंने जम्बू से "जम्बू प्रकाश" पत्र चलाने की इच्छा से पण्डितजी को बुलाया था; परन्तु उनकी अस्वस्थता के कारण यह न हो सका। तब ये फिर कलकत्ते चले आये

और "उचित वक्ता" को चलाते रहे। महाराज रणवीरसिंह का स्वर्गवास हो जाने के कारण उनके उत्तराधिकारी जम्बू-नरेश ने इन्हें बुलाया और शिक्षा विभाग के सर्वोच्च पद पर नियत किया; परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद राज्य-प्रबन्ध में कुछ गड़बड़ देखकर इन्होंने वहाँ रहना उचित न समझा और इस्तीफ़ा देकर वहाँ से चले आये। इन्होंने स्वर्गीय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के अनुरोध से बिहार-प्रान्त के लिए हिन्दी में कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखीं, जो बहुत समय तक बिहार के स्कूलों में प्रचलित रहीं।

जम्बू—राज्य से पीड़ित एक स्वदेशी पुरुष के कहने से इन्होंने "उचितवक्ता" में जम्बू-राज्य के रहस्यों को प्रकाशित करना आरम्भ किया; परन्तु इससे जब जम्बू की शासन-प्रणाली पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा तब इन्होंने देश वासियों के एक दल के सहित उस समय हिन्दुस्तान में आये हुए पार्लमेंट के मेम्बर, मिस्टर ब्रैडला, से मुलाक़ात की और अपने देश-वासियों का दुःख सुनाया। उन्होंने विलायत जाकर इनकी बड़ी तारीफ़ की और पार्लमेंट में जम्बू राज्य की बातें पेश करके उनका सुधार करवाया। इसके अनन्तर इन्होंने "मारवाड़ी-बन्धु" नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला; पर वह भी कुछ दिन चल कर बन्द होगया।

अमृतबाज़ार पत्रिका के प्रवर्त्तक, राजनीति-कुशल, बाबू शिशिरकुमार घोष को पण्डित दुर्गाप्रसाद अपना राजनैतिक गुरु मानते थे।

पण्डितजी ने हिन्दी में छोटी-बड़ी कोई २०, २२ पुस्तकें लिखीं।

आप बड़े सरल-स्वभाव, मिलनसार और हँसमुख मनुष्य थे और बङ्गाल में हिन्दी पत्रों के जन्मदाता और प्रचारकों में थे। मालूम नहीं पण्डितजी महाराज रणवीरसिंह का जो चरित्र लिखते थे वह समाप्त हुआ या नहीं। कई कुटुम्बीय आपत्तियों के कारण कुछ दिन से आप विरक्त हो गये थे। आप की मृत्यु संग्रहणी रोग से हुई।

[जनवरी १९११]

——

५—सेंट निहालसिंह

इँगलेंड से एक मासिक पत्र निकलता है। उसका नाम है रिव्यू आव् रिव्यूज़। वह बहुत प्रसिद्ध पत्र है। उसके सम्पादक हैं—मिस्टर डब्लू० टी० स्टीड। आपकी गिनती इँगलेंड के प्रतिष्ठित पुरुषों में है। आपका भी बड़ा नाम है और आपके पत्र का भी। चालीस वर्ष से आप पत्रसम्पादन और लेखन-कार्य कर रहे हैं। आपने, एक बार अपने पत्र में विलायत के नामी-नामी समाचार पत्र-लेखकों और सम्पादकों का नामोल्लेख करके उन सब की प्रसिद्धि के विषय में अपनी सम्मति प्रकट की थी। पाठकों को सुनकर शायद आश्चर्य होगा, इस बूढ़े सम्पादक की सम्मति में सेंट निहालसिंह उन सब में बढ़चढ़ कर हैं। समाचारपत्र-लेखन-कौशल में सिंह महाशय का आसन सबसे

ऊँचा है। स्टीड साहब की राय में सेंट निहालसिंह विधाता की सृष्टि में एक अद्भुत पुरुष हैं। यह अद्भुत पुरुष भाग्य से, अथवा अभाग्य से भारतवासी है।

निहालसिंह का जन्म-स्थान रावलपिंडी है। आपने एक सिक्ख गृहस्थ के घर में जन्म लिया था। लड़कपन ही से आप विद्याव्यसनी थे। पाठशाला में आप साहित्य, इतिहास, सम्पत्ति-शास्त्र और तत्व-ज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें बड़े चाव और बहुत विचार के साथ पढ़ते थे। इन विषयों से आपको बहुत प्रेम था। कविता में भी आपका बहुत जी लगता था। पर गणित से आप घबराते थे—उससे आपको अरुचि थी। जिस विषय का आप अध्ययन करते थे—जिस पुस्तक को आप देखते थे—उसमें तन्मय हो जाते थे। ज्ञानसम्पादन का आपको बालपन ही से बेहद चसका था। विद्यार्थी अवस्था ही से आप के हृदय में यह महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हो गई थी कि अपने विद्याबल से कोई विशेष कार्य करना चाहिए। परन्तु केवल पुस्तक-पाठ से विशेष ज्ञानार्जन होना उन्होंने असम्भव समझा। पुस्तकों में वर्णन की गई बातों को प्रत्यक्ष देखने की इच्छा उनके हृदय में उद्भुत हुई। दियासलाई के कारख़ाने का वर्णन पढ़कर उस विषय का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। नियागरा के जल-प्रपात का शाब्दिक चित्र देखकर उसका यथार्थ रूप ध्यान में नहीं आ सकता। चीन, जापान और अमेरिका आदि के अद्भुत दृश्य, कल-कार-ख़ाने, राज्य व्यवस्था इत्यादि की बातें प्रत्यक्ष देखने ही से अच्छी तरह समझ में आ सकती हैं। अपने देश के भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों की दुरवस्था या सुव्यवस्था देखने ही से मालूम हो सकती है। पुस्तकों में उसका वर्णन पढ़ने से नहीं। इन बातों

को स्वयं देखने के लिए देश-पर्य्यटन करना चाहिए। परन्तु जिसके पास जेब-ख़र्च के लिए दो-चार आने से अधिक नहीं वह दूर देशों की यात्रा कैसे कर सकता है। परन्तु निहालसिंह धनाभाव के कारण चुप बैठनेवाले युवक न थे। उन्होंने अपनी इच्छापूर्ति के मार्ग की कठिनाइयों की कुछ भी परवा न करके एक दिन चुपचाप घर से प्रस्थान कर दिया।

निहालसिंह के इस तरह निकल भागने से उनके पिता को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, पर पुत्र का कुछ भी पता न चला। एक दिन एक अँगरेज़ी अख़बार में उन्होंने एक लेख पढ़ा। उसके ढँग से उन्हें यह सन्देह हुआ कि बहुत कर के यह लेख मेरे निहालसिंह ही का लिखा हुआ है। अतएव उन्होंने उस पत्र के सम्पादक को लिख कर उस लेख की असल कापी मँगाई। उसे देखते ही उन्हें परमानन्द हुआ। वह लेख उन्हींके निहालसिंह का लिखा हुआ था। पिता को पुत्र का पता भी उसमें मिला। वे कहाँ हैं, क्या करते हैं, ये सब बातें पिता को धीरे धीरे मालूम हो गईं। जिनको परमेश्वर विलक्षणता देता है—जिनमें प्रतिभा या अद्भुत बुद्धि का विकास करता है—उनकी प्रायः सभी बातें विलक्षण होती हैं। इसे निहालसिंह की विलक्षणता ही समझिए जो वे अकस्मात् घर से चल दिये और पत्र द्वारा अपना कुशल-समाचार तक घर न भेजा। अनोखे आदमियों की बातें भी अनोखी होती हैं। जिन बातों को साधारण जन बहुत ही आवश्यक समझते हैं, असाधारण पुरुष उनको तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। असाधारणता का—अनोखेपन का—स्वरूप ही ऐसा होता है। उसका लक्षण ही विलक्षण होता है।

निहालसिंह जब पाठशाला में थे तभी से उन्होंने लेख लिखना आरम्भ कर दिया था। उस समय वे अपनी मातृभाषा में लिखते थे। पर अपना नाम न देते थे। विदेश जाकर आप अँगरेज़ी लिखने लगे। पहले आपने बङ्गाल की सैर की। पास कौड़ी न थी। परन्तु नेत्र देखने को थे, कान सुनने को थे, बुद्धि विचार करने को थी। इन्हींके बल से सिंह महोदय को भोजन-वस्त्र के लिए काफ़ी धन-प्राप्ति होती गई। उन्होंने हर पदार्थ को ध्यान से देखा। जो कुछ उन्होंने देखा सबके गुण-दोषों को अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि से तुरन्त ही हृदयङ्गम कर लिया। जहाँ कहीं काम मिला उसे करके ख़र्च चलाने भर के लिए रुपया कमाया। अवशिष्ट समय विद्याभ्यास, पुस्तकावलोकन और नई नई बातों का ज्ञान प्राप्त करने में आपने लगाया। कितने ही विद्यालयों को, कितने ही कारख़ानों को, और कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को आपने प्रत्यक्ष देखा और न मालूम कितने विद्वान्, उच्च पदाधिकारी, व्यापारी और प्रतिष्ठित पुरुषों की मुलाक़ात करके उन सबके सम्बन्ध की ज्ञातव्य बात जानी। बहुत दिनों तक आपने यही क्रम जारी रखा। आपकी जिह्वा में सरस्वती का वास था और लेखनी में अमृत रस। इससे जहाँ आप गये सारी कठिनाईयाँ हल होती गईं। जब आप अपने देश की स्थिति का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर चुके तब एशिया के अन्यान्य देशों की व्यवस्था जानने के इरादे से आपने बङ्गाल के पूर्व में जितने एशियाई देश और द्वीप हैं प्रायः सबकी सैर कर डाली।

चीन और जापान में आपको बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। चीन में आप बीमार भी हो गये। उस समय एक कौड़ी भी आपके पास न थी। परन्तु अपने अप्रतिम लेखन-कौशल

की बदौलत आपकी अर्थ कृच्छ्रता शीघ्र ही दूर हो गई। पूर्वोक्त देशों में बहुत कम अख़बार अँगरेज़ी में निकलते हैं। उनकी अवस्था भी अच्छी नहीं। तथापि उन्होंने सिंह महोदय के लेखों का बड़ा आदर किया और उनके श्रम का बदला भी इतना दिया कि उनका ख़र्च मज़े में चलने लगा। धीरे-धीरे मिस्टर सिंह का इन देशों में इतना मान हुआ कि प्रिंस इटो, कौंट ओक्यमा और बैरन कांडा तक इनकी पहुँच हो गई। पहुँच ही नहीं, किन्तु ये लोग सिंहजी के साथ मित्रवत् व्यवहार करने लगे। एक दफ़े जापान की राजधानी टोकियों में एक भोज हुआ। उसमें जापान के कितने ही उच्चोच्च अधिकारी और अमीर आदमी बुलाये गये। अँगरेज़ी गवर्नमेंट के प्रधान राजदूत सर क्लाड मेकडोनल भी उसमें आहूत हुए। इन सबके साथ रावलपिंडी के निधनी प्रवासी, अल्पवयस्क, सेंट निहालसिंह को भी मेज़ पर बैठ कर भोजन करने का गौरव प्राप्त हुआ। जिसने यह समाचार सुना उसी ने दाँतों तले उँगली दबाई। जिनके दर्शन दुर्लभ उनके साथ बैठ कर भोजन करना! "किमाश्चर्य्यमतः परम्"! रसवती वाणी, अनुपम वक्तृत्वशक्ति और अद्भुत लेखन-चातुर्य्य क्या नहीं कर सकता?

१९०६ ईसवी के अगस्त में सेंट निहालसिंह अमेरिका पहुँचे। न उनके पास धन था, न वैभव था, न किसी तरह का अधिकार था, न किसी की सिफ़ारिश थी। था क्या? वाणी, प्रयत्न, परिश्रम और लेखन-चातुर्य्य। इन्हीं की बदौलत थोड़े ही दिनों में निहालसिंह वहाँ भी निहाल होगये। सर्वत्र उनका मान होने लगा। उनके व्याख्यानों को लोग चाव से सुनने लगे; उनके लेखों को लोग प्रेम से पढ़ने लगे; उनकी मैत्री

सम्पादन करने के लिए लोग बड़ी उत्सुकता से उनसे मिलने लगे।

उस समय कनाड़ा-प्रवासी हिन्दुस्तानियों को बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ती थीं। जहाज़ से उतरने, वहाँ रहने और मिहनत-मजदूरी करने में उन्हें सैकड़ों विघ्नों का सामना करना पड़ता था। निहालसिंह को यह असह्य हुआ। वे अपने खर्च से ओटावा नगर को गये। प्रकृति विषय की चर्चा आरम्भ कर दी। विज्ञतापूर्ण लेख प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्रों में प्रकाशित करवाने लगे। सरकारी अफ़सरों से मिल कर प्रवासी भारतवासियों की तरफ़ से वकालत करने लगे। इसका फल भी बहुत अच्छा हुआ। जिन बातों की शिकायत थी उनका विचार हुआ और प्रवासियों को बहुत कुछ दाद मिलने लगी।

कनाड़ा में भी, जापान की तरह सेंट निहालसिंह को बड़े बड़े आदमियों और उच्चपदस्थ अधिकारियों के साथ बैठने-उठने और खाने-पीने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कनाड़ा के गवर्नर जनरल, अर्ल ग्रे, तक के साथ उन्होंने जलपान किया। यहाँ तक कि कई बार, कभी अर्ल ग्रे के आगे और कभी ठीक उनके बाद, सेंट निहालसिंह को व्याख्यान देने की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। निहालसिंह केवल समाचार पत्र-लेखक थे। न उनके पास और कुछ वैभव था, न ऐश्वर्य्य। परन्तु उनके लेख ऐसे होते थे कि पढ़नेवाले विवश होकर उन पर श्रद्धा करने लगते थे। वहाँ के समाचार पत्र-सम्पादकों और लेखकों को यह बात अच्छी नहीं लगी। वे सेंट निहालसिंह से ईर्षा करने लगे। गवर्नर जनरल के सदृश इनका सन्मान होते देख एक पत्र ने लिख तक दिया कि—"सिवा विभिन्न वर्ण और आकार-प्रकार के निहालसिंह में ऐसी और कौन सी बात है जो अन्यान्य

पत्र-सम्पादकों और लेखकों में नहीं! फिर नहीं मालूम, क्यों उनका इतना आदर होता है, इस बात को निहालसिंह शायद ख़ुद भी न जानते होंगे।"

इसके बाद सेंट निहालसिंह अमेरिका की स्वतन्त्र रियासतों में सैर करने गये। वहाँ लोगों ने कहा—यहाँ आपकी दाल न गलेगी। यहाँ आपका जीविका निर्वाह होना कठिन है। परन्तु पुरुष सिंह देश में रहे या विदेश में, कोई बात उसके इष्ट-साधन में बाधक नहीं हो सकती। वहाँ भी निहालसिंह को आशातीत सफलता हुई। बड़े बड़े समाचार पत्र उनके लेखों को सादर प्रकाशित करने लगे। उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगे और पुरस्कार स्वरूप-यथेष्ट धन भी देने लगे। यहाँ तक कि सिंह महाशय को धीरे-धीरे अपने लेखों के लिए पाँच-पाँच छः-छः सौ रुपये तक मिलने लगे। वहाँ उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि कुछ काल के लिए वे एक बहुत प्रसिद्ध मासिक पुस्तक के सम्पादक नियत किये गये। इस पर बड़ा कोलाहल मचा। लोगों के आश्चर्य्य की सीमा न रही। जिस भारत के प्रवासियों को कनाड़ा और कैलिफ़ोर्निया के गोरे फूटी आँखों नहीं देखना चाहते वहीं के एक सिंह ने बहुत दिन तक अमेरिका वालों को सम्पादन-कार्य्य-सम्बन्धी सबक़ सिखलाया!

शिकागो में सेंट निहालसिंह की भेंट एक विदुषी स्त्री से हुई। उसका भी व्यवसाय वही था जो मिस्टर सिंह का था। कई पत्रों का सम्पादन-कार्य्य वे कर चुकी थीं। उस समय वे एक साप्ताहिक पत्र की सम्पादिका थीं। वे सेंट निहालसिंह के गुणों पर मुग्ध हो गईं और अपना काम, अपना घर, अपना देश, अपने इष्ट-मित्र सब कुछ छोड़ कर उनकी अर्द्धाङ्गिनी होने

को तैयार हुईं। सेंट निहालसिंह ने भी कृपा करके यथाविधि उनका पाणिग्रहण किया। तब से वे अपने पति के साथ ही रहती हैं और उनके लेखन-कार्य्य में बहुत कुछ सहायता देती हैं। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। इस समय भी वे एक उपयोगी पुस्तक लिख रही हैं।

अमेरिका से सेंट निहालसिंह इँगलेंड गये। तब तक उनकी बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी। अतएव वहाँ भी उनका बड़ा आदर हुआ। बड़े बड़े पदाधिकारियों और सम्पादकों से उनकी भेंट हुई। लार्ड मार्ले के साथ घंटों उन्होंने वार्तालाप किया। वहाँ के अनेक प्रतिष्ठित पत्रों ने उनसे लेख देने की प्रार्थना की। उनमें से बहुतों की प्रार्थनायें उन्होंने स्वीकार भी कर लीं। इस तरह, दस-पाँच इङ्गलेंड के और कई अमेरिका के पत्रों के वे नियमित लेखक हो गये।

सेंट निहालसिंह आदर्श लेखक हैं। पूर्वी और पश्चिमी देशों के व्यावहारिक विषयों का उन्हें उत्तम ज्ञान है। उनकी भाषा भी अत्यन्त सरल और मधुर होती है। जिस विषय का वे विवेचन करने लग जाते हैं उसे वे चित्रवत् प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते हैं। अपने लेखों में वे पाठकों के सम्मुख किसी पक्ष या मत-विशेष की तरफ़ नहीं झुकते। दोनों पक्षों के कथन को वे अपनी मधुर, मनोहर और ववेचनापूर्ण भाषा में इस तरह समझा देते हैं कि उनका लिखना सबको अच्छा लगता है। उनके लेखों को पढ़ कर किसी पक्ष वाले को बुरा नहीं लगता। यही उनके लखने को ख़ूबी है।

सिंहजी बड़े ही अध्ययनशील और परिश्रमी लेखक हैं। (?) गत तीन वर्षों में उन्होंने दस-पन्द्रह लाख शब्द लिख डाले

होंगे। वे नियमित रूप से सारा दिन लेखन और वाचन का काम करते हैं। सुबह से शाम तक उनके हाथ से लेखनी या पुस्तक नहीं छूटती। उनके कितने ही लेख इस देश के माडर्न रिव्यू, हिन्दुस्तान रिव्यू और इंडियन रिव्यू में भी निकल चुके है और अब भी बराबर निकलते जाते हैं। अन्य देश के पत्रों में वे बहुधा भारत के विषय में लिखते हैं और अपने देश के पत्रों में अन्य देश-सम्बन्धिनी बातों के विषय में। उन्होंने अँगरेज़ी में कई पुस्तकें भी लिखी हैं।

सेंट निहालसिंह १९११ में भारत को लौट आये। उस समय वे अपनी पत्नी सहित अपने लेखन-कार्य में लग गये। भारत की सच्ची सच्ची स्थिति, अवस्था और व्यवस्था का ज्ञान, अपने लेखों द्वारा इंगलेंड की प्रजा को, वहाँ की प्रजा के नेताओं को और वहाँ के अधिकारियों को कराना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। साथ ही जो कुछ ज्ञान सम्पादन उन्होंने विदेश-यात्रा और विदेशवास से किया है उससे वे स्वदेशवासियों को भी लाभ पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। यह काम भी वे अपने लेखों ही के द्वारा करते हैं। उनकी किसी-किसी बात का विरोध यहाँ के कोई-कोई समाचार पत्र कभी-कभी कर बैठते हैं। परन्तु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। सेंट निहालसिंह का भाव और अन्तःकरण शुद्ध है। उनके कोई-कोई विचार यदि औरों के मनोतीत न हों तो सिवा इसके क्या कहा जा सकता है कि—

"भिन्नरुचिर्हि लोकः" और मतद्वैध होना बुरा नहीं। उस से विचार करने का मौक़ा मिलता है और विचारोत्तर सच्ची बात प्रकट हो जाती है।

सेंटजी से एक उलाहना है। अँगरेज़ी न जानने वाले अपने देश-भाइयों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने ख़याल किया है या नहीं ? सबसे अधिक तो इसीकी ज़रूरत है। वह क्या आप के अँगरेज़ी लेखों से हो सकता है ! जिस योरुप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न सेंट निहालसिंहजी भी, कभी कभी, अपनी देशभाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें ? अपनी माँ की बोली की—अपने देश की भाषा की—सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है। आशा है, सिंह महाशय इस उलाहने के लिए हमें क्षमा करेंगे।

(फर्वरी १९११)

नोट—इस उलाहने की दाद देकर सेंट निहालसिंह ने "सरस्वती" के लिए अनेक लेख लिखे। वे सब उसमें समय-समय पर प्रकाशित हो चुके हैं।

—लेखक

६—काशिनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग

तैलङ्ग महाशय दक्षिणी, गौड़ सारस्वत, ब्राह्मण थे। उनका जन्म १८५० ईसवी में हुआ था। उनके पूर्वज गोआ के रहनेवाले थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, बम्बई के पास, थाना नगर में आ बसे थे। पिता का नाम था, बापू रामचन्द्र तैलङ्ग। परन्तु आपके चचा, त्र्यम्बक रामचन्द्र, ने आपको गोद लिया था। इसी से आप अपने नाम के आगे अपने पिता का नहीं, चचा का नाम (त्र्यम्बक) लिखते थे।

साधारण शिक्षा

आपकी मराठी-शिक्षा एक छोटे से मदरसे में शुरू हुई। वहाँ आपनी मातृ-भाषा द्वारा पढ़ाई समाप्त करके आप, १८५९

में, बम्बई के एल्फिंस्टन हाई-स्कूल में भरती हुए। १८६४ ईसवी में उन्होंने, सिर्फ़ १४ वर्ष की उम्र में, बम्बई-विश्व-विद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास की। फिर आप एल्फिंस्टन कालेज में दाख़िल हुए। वहाँ आपको बड़े योग्य अध्यापक मिले। वे अपने छात्रों की मानसिक उन्नति की ओर ख़ूब ध्यान देते थे। सबसे बड़ी बात उनमें यह थी कि वे लोग विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए नियत पाठ्य-पुस्तकों के सिवा और भी पुस्तकें अपने छात्रों को पढ़ाते थे। ये पुस्तकें उत्तम और चुनी हुई होती थीं। उनके अध्ययन से छात्रों में .खुद बख़ुद सोचने की शक्ति उत्पन्न होती थी।

तैलङ्ग महोदय ने १८६६ ईसवी में बी० ए० और १८६८ में एम० ए० पास किया। १८६९ में आपने संस्कृत-विद्वत्ता का परिचायक एक पुरस्कार और १८७० में एल-एल० बी० की पदवी प्राप्त की। इसके पहले ही—१८६७ में—आप अपने कालेज के "फेलो" नियत किये जा चुके थे। कालेज में अध्यापक नियत होने पर आपको अँगरेज़ी और संस्कृत-भाषायें पढ़ानी पड़ती थीं। इस ओहदे पर आप पाँच वर्ष तक रहे। क़ानून की परीक्षा पास करने के बाद, कोई दो वर्ष तक, आप हाई-कोर्ट में वकालत का तजरिबा भी हासिल करते रहे। १८७२ में जब आपने "ऐडवोकेट" की परीक्षा पास कर ली तब आप वकालत करने लगे।

विशेष शिक्षा

तैलङ्ग महोदय ने इतना समय केवल परीक्षायें ही पास करने में नहीं लगाया। उन्होंने अपने ज्ञान-भाण्डार की भी विशेष

उन्नति की। एम० ए० पास करने पर उन्हें मालूम हुआ कि अब तक जो कुछ उन्होंने सीखा है वह उसके मुक़ाबले में कुछ भी नहीं जो अभी सीखना बाक़ी है। क़ानूनी किताबें पढ़ने के साथ साथ उन्होंने अँगरेज़ी-साहित्य, दर्शन और सम्पत्ति-शास्त्र का गहरा अध्ययन किया। प्लेटो, हक्सले और मिल के ग्रन्थों को वे बड़े ध्यान से पढ़ते रहे। इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर वे रेखागणित के कुछ गूढ़ प्रश्नों को नित्य हल किया करते थे। क्योंकि, उनका ख़याल था कि इससे विचार-शक्ति ख़ूब बढ़ती है। इसके सिवा वे अक्सर अखबारों में लेख लिखते, सभाओं में लेख पढ़ते और भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान देते थे। उनकी राय थी कि जो मनुष्य देश का उपकार करना चाहता हो उसके लिए ऐसी शिक्षा प्राप्त करना बहुत जरूरी है। वे प्रार्थना समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में बराबर जाते थे और वहाँ जितने उपदेश होते थे उनको बड़े ध्यान से सुनते थे। इसके बाद उनका सारांश लिखकर उपदेशक को इसलिए दिखलाते थे कि वे उपदेशक का तात्पर्य ठीक ठीक समझ कर अपने शब्दों में प्रकट कर सके हैं या नहीं। वे अक्सर कहा करते थे कि कोई मनुष्य तबतक पक्का विचार-शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता जबतक कि उसने दूसरों के विचारों को ठीक-ठीक समझना और अच्छी तरह प्रकट करना न सीख लिया हो। यह इसी प्रकार की शिक्षा का प्रभाव था जिसने उन्हें बम्बई-प्रान्त में अपने समय का सर्वोत्कृष्ट वक्ता और लेखक बना दिया। उस समय जान स्टुअर्ट मिल के तर्क-शास्त्र, सम्पत्ति-शास्त्र, और प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली नामक ग्रन्थ उनको बहुत प्रिय थे। कुछ दिनों बाद हर्बर्ट स्पेन्सर के भी वे बड़े भक्त हो गये। इसके सिवा कारलाइल के निबन्ध

टैनिसन की कविता, सिनवर्न के अटलान्टा और जार्ज इलियट के उपन्यास भी वे बड़े प्रेम से पढ़ते थे। इसी समय उन्होंने संस्कृत-का भी ख़ूब अध्ययन किया।

वकालत

तैलङ्ग महाशय ने, १८७२ में, वकालत शुरू की थी। थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत ऐसी चमकी कि उनकी गिनती बम्बई के प्रसिद्ध वकीलों में हो गई। उनकी वक्तृत्व शक्ति और जिरह करने की चतुरता की ख्याति ऐसी फ़ैली कि ढेर के ढेर मुअक्किल उनके पास आने लगे। बम्बई-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस, सर माइकेल वेस्ट्राप, आपकी योग्यता, विद्वत्ता, न्यायपरता और क़ानूनदानी की अक्सर तारीफ़ किया करते थे। तैलङ्ग महाशय की संस्कृत-विद्वत्ता, हिन्दू धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मुक़द्दमों में बड़ी सहायक होती थी। जज लोग आपको इतना मानते थे कि यदि हिन्दू-धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कोई बात उनकी समझ में न आती थी तो वे आपसे सलाह लेते थे।

वक्तृताएँ

तैलङ्ग महाशय बड़े प्रभावशाली वक्ता थे। उनकी धुवाँधार वक्तृतायें सुन कर बड़े-बड़े अँगरेज दङ्ग रह जाते थे। उन्होंने सबसे पहली वक्तृता, १८७३ में, नमक के क़ानून पर दी। उसमें इन्होंने इस क़ानून का विरोध किया। इसे लोगों ने बहुत पसन्द किया। परन्तु आपकी वह वक्तृता, जिसने आपको बम्बई का प्रधान वक्ता बना दिया, १८७६ में, हुई थी। वह माल से सम्बन्ध रखनेवाले क़ानून के विरोध में थी। उसे सुनकर बम्बई के बड़े-बड़े अधिकारी चकित हो गये। उस समय बम्बई

के प्रायः सभी अख़बारों ने जी खोल कर आपकी प्रशंसा की। इसके बाद आपकी जितनी वक्तृतायें हुईं प्रायः सभी एक से एक बढ़ कर हुईं।

विश्व-विद्यालय से सम्बन्ध

१८७६ में, तैलङ्ग महाशय बम्बई-विश्वविद्यालय के फ़ेलो बनाये गये। इसके बाद, १८८१ में, विश्व-विद्यालय की प्रबन्ध-कारिणी सभा ने आपको अपना सभासद चुना। इस पद पर आप १८९२ तक रहे। उस साल आप विश्वविद्यालय के उप-सभापति (Vice Chancellor) नियुक्त किये गये। विश्व-विद्यालय से आपका सम्बन्ध कोई सत्तरह वर्ष तक रहा। इतने दिनों तक उसकी उन्नति करने की चेष्टा आप बराबर करते रहे। उसका काम आप बड़े शौक़ से करते थे। विश्वविद्यालय के प्रायः सभी अधिवेशनों में आप बराबर उपस्थित होते थे।

सरकारी सम्मान

गवर्नमेंट ने १८८० ईसवी में आपको जस्टिस आव् दि पीस बनाया। इसी समय बम्बई के गवर्नर, सर जेम्ज़ फरगुसन साहब आपको सहकारी जजी के पद पर नियुक्त करना चाहते थे। पर आपने उसे स्वीकार न किया। इसके कुछ ही दिनों बाद आप गवर्नमेंट लॉ स्कूल में क़ानून के अध्यापक नियत किये गये। इस पद पर उस समय तक केवल योरोपियन बारिस्टर ही नियुक्त होते थे। आपही पहले भारतवासी थे जिनको यह पद दिया गया। १८८२ में आप शिक्षा-कमीशन के सभासद बनाये गये। कमीशन में जो काम आपने किया उसे

तत्कालीन वायसराय, लार्ड रिपन, ने इतना पसन्द किया कि आपको सी० आई० ई० की प्रतिष्ठित उपाधि से विभूषित किया। कमीशन के मेम्बर की हैसियत से आपने एक बड़ी ही उत्तम रिपोर्ट लिखी। उसमें आपने कमीशन के उन सभासदों के विचारों का खण्डन किया जिनका मत यह था कि सरकारी स्कूलों और कालेजों में नैतिक पुस्तकों के द्वारा नैतिक शिक्षा दी जाय। १८८४ में आप बम्बई के लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेंबर बनाये गये। कौंसिलर की हैसियत से आपने बम्बई-प्रान्त की प्रजा का जैसा उपकार किया वैसा बहुत कम लोगों ने किया होगा।

सभाओं से सम्बन्ध

बम्बई में साहित्य, विज्ञान, राजनीति और समाज-सुधार से सम्बन्ध रखनेवाली शायद ही कोई ऐसी सभा हो जिससे तैलङ्ग महाशय का थोड़ा बहुत सम्बन्ध न रहा हो। वहाँ की प्रायः सभी बड़ी-बड़ी सभाओं के आप मेम्बर थे। बम्बई-असोसियेशन, ईस्ट इन्डिया असोसियेशन और विद्यार्थियों की साहित्य तथा विज्ञान-सम्बन्धिनी सभा (Students Literary and Scientific Society) के आप बहुत दिनों तक सहकारी मन्त्री रहे। १८८५ में आपने सर फ़ीरोज़शाह मेहता के साथ बम्बई प्रेसीडेंसी असोसियेशन की नींव डाली। उसके भी मन्त्री आप ही बनाये गये। १८९२ में आप रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के सभापति किये गये। आप पहले हिन्दुस्तानी थे जो इस पद पर नियुक्त हुए। आपके पहले इस पद पर केवल योरोपियन ही नियत किये जाते थे।

कांग्रेस से सम्बन्ध

तैलङ्ग महाशय कांग्रेस के एक स्तम्भ थे। मिस्टर ह्यूम के साथ मिल कर जिन लोगों ने कांग्रेस क़ायम की थी, तैलङ्ग महाशय भी उन्हीं में थे। सन् १८८८ में कांग्रेस इलाहाबाद में हुई थी। उस समय जो वक्तृता आपने दी थी वह इतनी गम्भीर, युक्तिपूर्ण, मनोहर और प्रभावशालिनी थी कि विपक्षियों तक ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। लोगों का ख़याल है कि अपने जीवन में उन्होंने जितनी वक्तृतायें दी थीं वह उन सबसे उत्तम थी।

हाईकोर्ट के जज

तैलङ्ग महाशय, १८८९ में, हाईकोर्ट के जज नियत किये गये। आपकी नियुक्ति को प्रायः सभी श्रेणी के लोगों ने पसन्द किया। हाईकोर्ट के जज में जो जो गुण होने चाहिएँ वे सब आपमें पहले ही से मौजूद थे। उनका उपयोग करके आपने राजा, प्रजा, दोनों को मोहित कर लिया। क़ानून की रिपोर्टों में प्रकाशित आपके फ़ैसलों को पढ़ कर अब तक लोग आपकी गहरी क़ानूनदानी और असाधारण योग्यता की तारीफ़ करते हैं। यद्यपि जज होजाने पर आपका राजनैतिक मामलों में शामिल होना बन्द हो गया तथापि कांग्रेस से आपकी वैसी ही सहानुभूति बनी रही जैसी कि पहले थी।

मृत्यु

तैलङ्ग महाशय का स्वास्थ्य १८९२ के अन्त में बिगड़ने लगा। कई महीने तक कठिन रोग की यातनायें झेलने के बाद

आपकी आत्मा, पहली सितम्बर सन् १८९३ को, इस नश्वर शरीर को त्याग कर परलोक को सिधार गई। आपकी मृत्यु की ख़बर फैलते ही बम्बई भर में शोक छा गया। क्या योरोपियन, क्या हिन्दुस्तानी सभी ने आपके लिए शोक किया। जगह जगह पर शोक-सभायें हुईं और आपके गुण गाये गये।

समाज-सुधार-सम्बन्धी-कार्य

तैलङ्ग महाशय केवल वकील, राज-नीतिज्ञ और विद्वान् ही न थे, किन्तु समाज-सुधारक भी थे। वे बाल-विवाह और जाति-भेद के विरोधी तथा विधवा-विवाह के पक्षपाती थे। मरने के कोई दस वर्ष पहले आपका मत था कि समाज-सुधार-सम्बन्धी मामलों में गवर्नमेंट को हस्तक्षेप न करना चाहिए और न इस विषय में कोई क़ानून ही बनाना चाहिए। पर पीछे से आपका यह मत पलट गया था। जिस समय, १८९० ईसवी में, बड़े लाट की कौंसिल में सम्मतिदान-सम्बन्धी मसविदा (Age of Consent Bill) पेश था उस समय आपने टाइम्स आव् इण्डिया नामक पत्र में एक लेख-माला लिखी थी। उसमें इस बिल का समर्थन करते हुए आपने लिखा था कि गवर्नमेंट को यह बिल ज़रूर पास कर देना चाहिए, क्योंकि समाज-सुधार-सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप करना राजा का परम कर्त्तव्य है। आप बम्बई की विधवा-विवाह प्रचारिणी सभा के सभापति भी थे। पर तैलङ्ग महाशय में एक दोष यह था कि वे व्यावहारिक सुधारक (Practical Reformer) न थे। यद्यपि वे बाल-विवाह के विरोधी थे तथापि उन्होंने अपनी आठ वर्ष की कन्या का विवाह कर दिया था। इस पर लोगों ने आपकी बड़ी निन्दा की थी। पर आप सदा यही कहते

रहे कि "इसमें हमारा कुछ बस नहीं; हम पर हद से ज़ियादह दबाव डाला गया और तन्दुरुस्ती ख़राब होने के कारण हमें उसे मानना पड़ा।"

स्वभाव आदि

तैलङ्ग का स्वभाव और चाल-चलन बहुत ही अच्छा था। वे प्रायः सभी प्रकार के दोषों से बचे थे। उनके खानपान, कपड़े-लत्ते, रहन-सहन से सादापन टपकता था। मिलनसारी में वे अपना सानी न रखते थे। यद्यपि वे कामों के बोझ से दबे रहते थे तथापि हिन्दू-यूनियन क्लब में नित्य शाम को जाते थे और सब श्रेणी के मेम्बरों से मित्रभाव से मिलते थे। इस क्लब में उन्होंने यह नियम प्रचलित किया था कि कोई मेंबर अँगरेज़ी बोलते समय मराठी और मराठी बोलते समम अँगरेज़ी शब्द का प्रयोग न करे। वे कहा करते थे कि शिक्षित भारतवासियों को यह आदत पड़ गई है कि वे अपनी मातृ-भाषा बोलते समय अँगरेज़ी-शब्दों और वाक्यों की बेतरह भरमार करते हैं। इस आदत को वे बुरा समझते थे।

लेख और ग्रन्थ

तैलङ्ग महाशय अँगरेज़ी और मराठी दोनों भाषाओं के लेखक थे। उन्होंने अँगरेज़ी में कई छोटे बड़े निबन्ध और ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं:—

(१) (Bhagvad Gita) यह गीता का अँगरेज़ी पद्यानुवाद है। अध्यापक मैक्समूलर के "पूर्वीय पवित्र ग्रन्थ" (Sacred Books of the East) नामक पुस्तक-माला में यह प्रकाशित हुआ था।

(२) (Bhartrihari Niti Shatak) भर्तृहरिकृत नीतिशतक का अँगरेज़ी-अनुवाद। इसमें जगह जगह पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

(३) (Mudra-Rakshasha) कविवर विशाखदत्त-कृत प्रसिद्ध मुद्राराक्षस नाटक का अँगरेज़ी-अनुवाद। इसमें भी स्थान स्थान पर अनुवादकर्त्ता ने विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ देकर ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ा दी है।

(४) (Life of Shankar) यह आठवीं शताब्दी के जगद्विख्यात वेदान्त-प्रचारक श्रीमच्छङ्कराचार्य्य का संक्षिप्त जीवन-चरित है। शङ्करदिग्विजय, आनन्दगिरि-कृत शङ्कर-विजय और कावेरी वेङ्कटरामस्वामी-कृत दक्षिणी कवियों के चरित पढ़ कर इस छोटी सी किताब को आपने लिखा है।

(५) (Was the Ramayan Copied from Homer ?) इस निबन्ध में आपने अध्यापक वेबर के इस विचार का खण्डन किया है कि रामायण लिखने में वाल्मीकि ने होमर के महाकाव्य की नक़ल की है। जिस समय यह निबन्ध आपने विद्यार्थियों की पूर्वोल्लिखित सभा में पहले पहल पढ़ा उस समय इसकी धूम मच गई। योरप और हिन्दुस्तान के प्रायः सभी विद्वानों ने इसे बहुत पसन्द किया और इसकी प्रशंसा जी खोल कर की।

(६) (Ancient Inscriptions etc.) इसमें प्राचीन-काल के शिला-लेखों और ताम्रपत्रों का वर्णन है। इसे आपने पहले पहल इण्डियन ऐंटिक्वेरी नामक पुरातत्त्व-सम्बन्धी मासिक पत्र में लिखा था।

आपकी लिखी तथा अनुवाद की हुई मराठी पुस्तकों के नाम ये हैं—

(१) नाथन का जीवन-चरित यह लेसिंग साहब-कृत अँगरेज़ी-पुस्तक का अनुवाद है।

(२) स्थानिक स्वराज्य। यह कामर साहब की लिखी हुई लोकल सेल्फ़ गवर्नमेंट (Local Self Government) का अनुवाद है।

(३) क्या रस्म-रिवाज़ की अपेक्षा शास्त्र श्रेष्ठ है? यह निबन्ध आपने पहले पहल हिन्दू यूनियन क्लब के सामने पढ़ा था। पीछे से यह पुस्तकाकार छापा गया।

इसके सिवा आपने और भी न मालूम कितने लेख लिखे, जिनकी गिनती करना मुश्किल है। केवल मुख्य मुख्य लेखों का ही ज़िक्र ऊपर किया गया है।

उपसंहार

तैलङ्ग महाशय बम्बई में अपने समय के प्रधान वकील, शिक्षक, वक्ता, लेखक और राजनीतिज्ञ थे। वे हमेशा वही काम करते थे जिससे भारत का दुख दूर हो और उसका मुख संसार के सामने उज्ज्वल हो। उनमें ऐसे कई गुण थे जिन्हें ग्रहण करके आज-कल के शिक्षित नवयुवक बेहद लाभ उठा सकते हैं और देश का उपकार कर सकते हैं।

(मई १९२२)

—

७—डबल्यू० सी० बानर्जी

महात्माओं और महामहिम पुरुषों के चरित कभी पुराने नहीं होते। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, ईसा, मूसा और चैतन्य महाप्रभु की लीला की समाप्ति हुए बहुत समय बीत गया। फिर भी उनका यशोगान होता ही रहता है और उससे अनन्त-जन-समुदाय यदि और कुछ लाभ नहीं प्राप्त करता तो उस गान के श्रवण या मनन से अपने उतने समय को सार्थक ज़रूर कर लेता है। पुराने देशोद्धारकों और स्वदेश-प्रेमियों के चरित-पाठ से तो प्रत्यक्ष लाभ होता है और बहुत अधिक लाभ होता है उनके गुणों का अनुकरण करके। देश के दुःखनिवारण की यदि थोड़ी भी इच्छा हृदय में उत्पन्न हो जाय तो इसी को कम लाभ न समझना चाहिए। अतएव डब्ल्यू० सी० बानर्जी के संक्षिप्त चरित से भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं और यदि

हम उनके से गुणों का उपार्जन करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो जायँ तो फिर कहना ही क्या है। वे एक नामी बारिस्टर; नामी राजनीतिज्ञ, नामी वक्ता और नामी देश-भक्त थे। उनको यह लोक छोड़े यद्यपि बहुत दिन हो गये, तथापि अब तक हजारों मनुष्य ऐसे होंगे जिन्होंने उनकी धारा-प्रवाह वक्तृता सुनी होगी और वक्तृता देते समय अनन्त-जन समुदाय के बीच उनकी मेघगम्भीर-गजन का जिन्हें अब तक स्मरण बना होगा।

बङ्गाल के मूर्तिमान् गौरव मिस्टर डबल्यू० सी० बानर्जी का पूरा नाम था उमेशचन्द्र बानर्जी। उनके पिता, गिरीशचन्द्र वन्द्योपाध्याय हुगली ज़िले के अन्तर्गत एक छोटे से गाँव के निवासी थे। उस गाँव का नाम है बागण्डा। वे अच्छे अँगरेज़ीदाँ थे। क़ानून में उनकी विशेष गति थी। कलकत्ते के हाई-कोर्ट में वे अटार्नी-एट-ला थे। अपने पेशे में उन्होंने ख़ूब कीर्ति प्राप्त की थी। अटार्नियों में उनका बड़ा नाम था। धनोपार्जन भी उन्होंने ख़ूब किया था।

उनके पुत्र उमेश का जन्म, कलकत्ते में, १८४४ ईसवी में हुआ। सुशिक्षित होने के कारण पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र उनसे भी अधिक शिक्षा प्राप्त करके धन, मान और कीर्ति का अर्जन करे। उनकी इस इच्छा की पूर्ति तो अवश्य हुई, परन्तु उमेश ने, शिक्षा-प्राप्ति के विषय में उन्हें बहुत हताश किया। कारण यह हुआ कि उमेश लड़कपन ही से बड़े खिलाड़ी निकले। उनकी प्रवृत्ति पढ़ने की ओर कम, नाच-तमाशा देखने ही की ओर अधिक थी। उनकी यह शौक़ीन-मिज़ाजी दिन पर दिन बढ़ती ही गई। दिन-रात वे नाचने-गानेवालों की सङ्गति में मस्त रहने लगे। स्कूल जाना और पढ़ना उन्हें भारभूत

मालूम होने लगा। फल यह हुआ कि उन्होंने विद्याभ्यास बन्द कर दिया। रासलीला और रामलीला करने के लिए जैसे अपने प्रान्त में मण्डलियाँ हैं और जगह-जगह जाकर लीलायें करती फिरती हैं वैसे ही बङ्गाल में "यात्रा" नाम की मण्डलियाँ हैं। वे भी सर्वत्र घूम फिर कर खेल-तमाशे किया करती हैं। उमेश उन्हीं के फन्दे में फँस गये और कुछ समय तक उन्हीं यात्राओं में सम्मिलित होकर गाते-बजाते रहे। कुसङ्गति के कारण, अटार्नी-एट-ला के इस पुत्र का यहाँ तक अधःपात हुआ कि वह एक थिएटर का मेम्बर हो गया। कलकत्ते के पथरियाघट्टा महल्ले में टागोर घराने का एक निजी थियेटर था। उमेश की पहुँच वहाँ हो गई और आप उस थियेटर के खेलों में खुल्लम-खुल्ला शरीक होने लगे। शरीक होने से मतलब खेल देखने से नहीं, स्वयं अभिनय करने से है। वे वहाँ खेले जानेवाले नाटकों में भिन्न-भिन्न "पार्ट" लेकर अपनी अभिनय-कुशलता दिखाने लगे। इसमें उन्हें सफलता भी हुई। और होती क्यों नहीं? उस छोटी सी अवस्था में भी उनके चेहरे से तेजस्विता और आँखों से प्रतिभा की ज्योति प्रकट होती थी। और तेजस्वी तथा प्रतिभावान् पुरुष जिस काम में हाथ लगाता है उसमें वह प्रायः सदा ही सफल-मनोरथ होता है।

उमेश के इस शौक़ीन स्वभाव का रहस्य पिता से बहुत दिन तक छिपा न रह सका। धीरे-धीरे उन्हें सब हाल मालूम हो गया। इस पर उन्हें बड़ा रंज हुआ। उमेश की दिनचर्य्या और दुर्वृत्ति से बेख़बर रहने के कारण उन्होंने अपने को भी, किसी अंश तक, दोषी ठहराया। परन्तु आगे के लिए वे साव-धान हो गये और ऐसा कड़ा प्रबन्ध किया कि उमेश की एक भी चालाकी काम न आई। उनका गाना-बजाना और थिएटर

जाना एकदम बन्द हो गया। पर गिरीश बाबू को इस बात का निश्चय हो गया कि लड़का अब पढ़ने का नहीं। इस कारण वे उमेश को अपने साथ रखने और उनसे अटार्नी के काम में मदद लेने लगे। धीरे धीरे उमेश की पुरानी आदतें छूट गईं। वे पिता के काम में ख़ूब मन लगाने और अपनी योग्यता बढ़ाने लगे। दिन-रात के परिश्रम से उन्होंने अपनी शिक्षा की कमी की भी बहुत कुछ पूर्ति कर ली। उनकी प्रतिभा भी विकसित होने के चिह्न दिखाने लगी।

इतने में उमेशचन्द्र को विलायत जाने की सूझी। वे चुपके चुपके रवाना होने की तैयारी करने लगे। पिता इस बात से व्यग्र हो उठे। वे थे कुलीन ब्राह्मण। पुत्र के विलायत जाने से वे जातिच्युत हो जाते। अतएव उन्होंने उमेश को बहुत कुछ समझाया-बुझाया। पर उमेश थे अपनी धुन के पक्के। उन्होंने पिता की एक न सुनी। तब पिता ने लाचार होकर उमेश का विवाह कर दिया। उन्होंने कहा, विवाह के बन्धन में फँस जाने से शायद उमेश विलायत जाने का विचार छोड़ दे। पर इसमें उन्हें सफलता न हुई। उमेश ने अपने इरादे को न छोड़ा। महाकवि ने ठीक ही कहा है--

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चितं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ?

आख़िरकार प्रेमचन्द-रायचन्द की छात्रवृत्ति प्राप्त करके, १८६२ ईसवी में, उमेशचन्द्र विलायत चले ही गये। उस समय उनकी उम्र केवल १८ वर्ष की थी।

विलायत पहुँच कर उमेशचन्द्र बारिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने लगे। वे थे स्वभावही से प्रतिभावान्। अतएव उन्होंने यथासमय उसकी परीक्षा नामवरी के साथ पास कर ली।

उमेशचन्द्र विलायत ही में थे कि इधर भारत में उनके पिता का शरीर छूट गया।

उमेश लड़कपन ही से उच्छृङ्खल और विलास-प्रिय थे। विलायत जाकर और वहाँ कई वर्ष रह कर वे और भी स्वतन्त्र हो गये। वहाँ उन्होंने ख़ूब मनमानी की। धीरे-धीरे उनकी रहन-सहन सभी विदेशी हो गई। वे पूरे साहब बन गये। अपने धर्म्म, अपने सामाजिक रीति-रवाज, अपने खाद्याखाद्य-विचार से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों का उन्होंने बहुत कुछ उल्लङ्घन कर दिया। फल यह हुआ कि भारत लौट आने पर उमेशचन्द्र से उनके सजातीय हिन्दुओं की न पटी। समाज ने उन्हें ग्रहण न किया। इस समय यदि धर्मान्तर करने की ज़रूरत ही उन्हें थी तो वे ब्राह्म-समाज में शामिल हो सकते थे और प्रकारान्त से हिन्दू बने रह सकते थे। यह समाज समुद्र-पार जानेवालों को भी अपने अन्तर्भुक्त कर लेता है। पर उमेशचन्द्र उसकी भी शरण न गये। उन्होंने क्रिश्चियन धर्म्म की दीक्षा ले ली और वे मिस्टर डबल्लू० सी० बानर्जी बन बैठे। इस कारण तत्कालीन बङ्ग-ब्राह्मणों के समुदाय के हृदय पर कड़ी चोट लगी। पर लाचारी थी। हर आदमी को, अपने विश्वाश के अनुसार, धर्म्मान्तर करने की स्वतन्त्रता है।

बानर्जी साहब ने कलकत्ते के हाई-कोर्ट में बारिस्टरी आरम्भ की। वे इतने अच्छे वक्ता और इतने प्रतिभाशाली थे कि उनकी बारिस्टरी बहुत शीघ्र चमक उठी। उन्हें ख़ूब काम

मिलने लगा। बड़े बड़े पेचीदा मामले उनके पास आने लगे। धीरे-धीरे उनकी धाक जम गई। अनाहूत लक्ष्मी उनके घर में दासी बन कर आने और रहने लगी। जिरह करने में मिस्टर बानर्जी इतने निपुण थे कि बड़े से बड़े धैर्य्यधारी जन उनके टेढ़े मेढ़े प्रश्नों की अनवरत बौछार से विकल होकर घबरा जाते और कुछ का कुछ कहने लगते थे। उनके लम्बी डाढ़ी थी। जब वे अपने मुवक्किलों की तरफ़ से, हाई-कोर्ट के जजों को सम्बोधन करके, गर्जनपूर्वक अपना पक्ष समर्थन करने लगते थे तब सर्वत्र सन्नाटा छा जाता था। उस समय उपस्थित वकील, वारिस्टर, वादी-प्रतिवादी, तथा जज तक चित्र-लिखित से चुपचाप उनकी वक्तृता सुनते थे। बोलते समय उनकी डाढ़ी हवा से इधर-उधर जब उड़ने लगती तब वे एक हाथ से उसे सँभालते और दूसरा हाथ उठाकर, कभी कभी अपने मनोभावों को 'उग्रतानिदर्शन' पूर्वक व्यक्त करते थे। उस समय का दृश्य देखते ही बनता था।

लार्ड रिपन का ज़माना था। उनके क़ानूनी सलाहकार सर इलवर्ट ने अपने कानूनी मसविदे को विचारार्थ पेश किया था। उसी हलचल के समय बानर्जी महाशय का ध्यान देश की राजनैतिक अवस्था की ओर खिंचा और वे सब तरह की चर्चाओं में शामिल होने लगे। इलबर्टबिल के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत काम किया। पर वह सब बेकार गया। मुट्ठी भर अँगरेज़ों के हो-हल्ला मचाने और नाना प्रकार की धमकियाँ देने के कारण वह बिल मंसूख़ हो गया।

१८८५ ईसवी में कांग्रेस का पहला जलसा बम्बई में हुआ। उसके प्रेज़िडेंट आपही बनाये गये। इतनेही से भारतवासियों

को सन्तोष न हुआ। यह सम्मान उन्होंने बानर्जी महाशय को दुबारा भी दिया। १८९२ ईसवी में जब कांग्रेस का जलसा इलाहाबाद में हुआ तब उसके भी प्रेज़िडेंट का पद बानर्जी ही को दिया गया। उन्होंने कांग्रेस की सेवा भी ख़ूब ही की। सदा ही वे उसकी उन्नति की चेष्टा में रत रहे।

१८८३ ईसवी में बानर्जी महाशय कलकत्ता हाईकोर्ट के स्टैंडिंग् कौन्सल नियत हुए और चार वर्ष तक बराबर उस पद पर अधिष्ठित रहे। जब सरकारी लेजिस्लेटिव कौंसिलों में सर्वसाधारण के चुने हुए मेंम्बरों को लेने का नियम निश्चित हुआ तब पहले पहल कलकत्ता विश्वविद्यालय की तरफ़ से बानर्जी महाशय ही बङ्गाल कौंसिल के मेम्बर मुन्तख़िब हुए।

कलकत्ते के हाईकोर्ट में काफ़ी से अधिक नामवरी हासिल कर चुकने पर डबल्यू० सी० बानर्जी ने विलायत के लिए प्रस्थान किया। १९०२ ईसवी में वे वहाँ पहुँचे और प्रिवी कौंसिल में बारिस्टरी करने लगे। वहाँ भी आपने बहुत शीघ्र अपनी धाक जमाली। पारलियामेंट (हाउस आफ़ कामन्स) में भी प्रवेश पाने की आपने वहाँ चेष्टा की; पर समय अनुकूल न देख कर आपने वह चेष्टा बन्द कर दी। यदि वे कुछ वष और जीते और अपनी चेष्टा को शिथिल या बन्द न कर देते तो बहुत सम्भव था, वे हाउस आफ़ कामन्स के मेम्बर हो जाते। पर उनकी तन्दुरुस्ती ने धोखा दिया। स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण वे भारत को लौट न सके; वहीं रह गये। पर अस्वस्थ अवस्था में भी वे अपने देश को नहीं भूले। विलायत में बैठे बैठे भी वे यथाशक्ति उसकी उन्नति के साधनों को सुलभ करने के उपाय करते रहे। २१ जुलाई

१९०६ को विलायत के बेडफर्ड-पार्क के "खिदिरपुर-हाउस" में उनका देहान्त हुआ। पर उनका शव समाधिस्थ नहीं किया गया। उसका अग्नि-संस्कार हुआ; वह जलाया गया।

बानर्जी महोदय की मृत्यु का समाचार इस देश में पहुँचा तो अनेक स्थानों में शोक-सभायें हुईं और उनमें उनका गुण-गान किया गया। उनकी यादगार में, सम्मानार्थ कलकत्ता-हाई-कोर्ट ने एक दिन अपना सारा काम बन्द रक्खा।

मिस्टर बानर्जी पूरे साहब थे। उनकी हर बात से साहबी टपकती थी। उनके साहबी ठाट में किसी तरह की कोर-कसर न थी। उनका रङ्ग-ढङ्ग, भाषण; आचार-व्यवहार, वस्त्राच्छादन—यहाँ तक कि हँसना और मुसकराना तक—सभी साहबाना था। जो लोग उनसे परिचित न थे उनके मन में उन्हें देखकर कभी इस बात का सन्देह तक न होता था कि वे बङ्गाली हैं। आपके बड़े पुत्र का नाम है शेली बानर्जी। वे पहले कलकत्ता-हाई-कोर्ट के एडवोकेट थे। मालूम नहीं, इस समय वे क्या करते हैं। मिस्टर बानर्जी ने अपने पुत्रों और पुत्रियों के विवाह अँगरेज़ों ही के समाज में किये हैं।

यह सब होकर भी मिस्टर बानर्जी अपनी माँ का बड़ा आदर करते थे। सुनते हैं, उनमें आपकी अपार भक्ति थी। वे नित्य उठ कर उनका दर्शन और उनके सामने भूमिष्ठ प्रणाम करते थे। उन्होंने अपनी बारिस्टरी से अनन्त धनोपार्जन किया। उसका एक अच्छा अंश वे अपनी माता को दान पुण्य, व्रतोत्सव और तीर्थ यात्रा में ख़र्च करने के लिए सदा प्रेमपूर्वक देते रहे। जबतक माता जीवित रहीं तबतक उन्होंने इस निमित्त उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार धन देकर सदा ही उन्हें

सन्तुष्ट किया। हमने कहीं पढ़ा है कि वे अपने माता-पिता का श्राद्ध तक बड़ी श्रद्धा से करते थे।

बानर्जी महोदय दानी भी थे। दीनों, दान के पात्रों और साहाय्य-प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों को उन्होंने कभी निराश नहीं किया।

धर्मान्तर कर लेने पर और अपनी मातृ-भाषा बँगला और उसके साहित्य से विरक्त रहने पर भी मिस्टर बानर्जी अपने देश से कभी विरक्त नहीं हुए। उन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश राजनैतिक कामों और भारत की हितचिन्तना में लगा दिया!

लार्ड रिपन चाहते थे कि वे मिस्टर बानर्जी को हाईकोर्ट का जज बना दें। पर उन्होंने इस गौरवास्पद पद को स्वीकार नहीं किया। अपनी स्वतन्त्रता को बेचना वे पसन्द नहीं करते थे।

मिस्टर डबल्यू० सी० बानर्जी की जिरह और वक्तृत्वशक्ति का उल्लेख ऊपर एक जगह किया जा चुका है। एक मुक़दमें में उन्होंने बड़ा नाम पाया। नदिया ज़िले में एक जगह मेहरपुर है। वहाँ, उस समय, मेकडानल साहब जंट मैजिस्ट्रेट थे। ये वही मेकडानल साहब हैं जो पीछे से सर अंटोनी मेकडानल कहाये और संयुक्तप्रान्त के लफ्टिनेंट गवर्नर हुए। उनके ख़िलाफ़ मेहरपुर की एक नीच जाति की स्त्री ने एक नालिश दायर कर दी और उन पर कुछ भद्दे से इलज़ाम लगाये। ख़ैर, मुक़दमा हुआ और स्त्री के लगाये गये इलज़ाम झूठ साबित हुए। फलतः उसपर झूठा अभियोग लाने का अपराध लगाया। अब क्या हो? मिस्टर

बानर्जी को उस अबला पर दया आई और उसकी दशा सच-मुच दयनीय थी भी। उन्होंने उसका पक्ष लिया। मुक़दमे की पेशी हुई। बहस होने लगी। उस समय जो तेजस्विता, जो योग्यता और जो चातुर्य मिस्टर बानर्जी ने प्रकट किया उसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी जिरह और उनकी धड़ल्ले की वक्तृता सुनकर और लोग ही नहीं, स्वयं न्यायाधीश तक स्तम्भित रह गये। फल यह हुआ कि जूरियों को उसे निर्दोष कहना पड़ा। बस फिर क्या था। विद्युद्वेग से मिस्टर बानर्जी कटघरे के पास पहुँचे और उस दुःखिनी नारी का हाथ पकड़ कर उसे बाहर खींच लाये। आप बोले—"जा, तू निर्दोष है। तू छूट गई।" इस पर सहस्रों मनुष्यों ने, जिस जिसने इस मुक़दमे का हाल सुना सभी ने, मिस्टर बानर्जी के लिए धन्य धन्य कहा।

मिस्टर बानर्जी में सब गुण ही गुण थे। दोष यदि माना जाय तो उनमें केवल इतना ही था कि धर्म्मान्तर के साथ ही साथ उनके आचार-व्यवहार और रहन-सहन में भी अन्तर आ गया था। पर दोष होते किसमें नहीं। क्या संसार में कोई ऐसी भी वस्तु है जिसमें सर्वथा दोषाभाव हो?

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः

[अगस्त १९२४]

८--इतिहासवेत्ता विश्वनाथ काशिनाथ राजवाड़े, बी० ए०

पण्डित विश्वनाथ राजवाड़े के नाम तक से इस प्रान्त के बहुत ही थोड़े साक्षर जन परिचित होंगे। परन्तु ये सज्जन उन सरस्वती-सेवकों में से थे जिन्होंने कमलासना लक्ष्मी को तुच्छ समझा, राजसत्ता के प्रबल प्रतिबन्धों को पराजय कर दिया, भिक्षुकी वृत्ति ही से अपना भरण-पोषण किया और सादगी के रहन-सहन ही से अपने को कृतार्थ माना। अनेक विघ्न-बाधाओं की कुछ भी परवा न करके, अपनी इष्ट देवी सरस्वती की आराधना ही में दो चार नहीं, कोई तीस चालीस वर्ष पर्य्यन्त निमग्न रहनेवाले इस महाराष्ट्र-इतिहासवेत्ता ने वह काम कर

दिखाया जो उनकी स्थिति में जीवन बिताने वाले शायद ही किसी अन्य देश या अन्य प्रान्त के निवासी से हो सका हो। महाराष्ट्र के कोने कोने की, गाँव गाँव की, खाक़ छान कर राजवाड़े ने मराठों के इतिहास की गाड़ियों प्रामाणिक सामग्री एकत्र की। उसका इन्होंने सम्पादन भी किया और कोई दो दर्जन जिल्दों में उसका प्रकाशन भी करके उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। कोई ६२ वर्ष की उम्र में, ३१ दिसम्बर ९९२६ को, वे उस धाम को पधार गये जहाँ एक दिन हम तुम, सभी को चला जाना है।

राजवाड़े ने अपनी पुस्तक, सङ्कीर्ण-लेख-सङ्ग्रह, में अपने प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। उससे उनके जीवन-चरित्र का विशेष वृत्तान्त जाना जा सकता है। दक्षिण में पूना-नगर के पास बड़गाँव नामक गाँव में, १८६४ ईसवी के जूलाई महीने में, उनका जन्म हुआ। मराठी-भाषा के द्वारा १२ वर्ष की उम्र तक, उन्होंने अपने ही गाँव में शिक्षा पाई। तदनन्तर उन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना शुरू किया। परन्तु चार वर्ष पढ़ कर उन्होंने स्कूल-छोड़ दिया और पूने से अपने गाँव लौट गये। १८ वर्ष की उम्र में उन्होंने वहीं से, बाहरी छात्र की हैसियत से, मैट्रीकुलेशन की परीक्षा 'पास' की। वे एक साधारण गृहस्थ के लड़के थे। रुपये-पैसे का सुभीता न था। तथापि वे पूने के डेकन-कालेज में आगे पढने गये। वहाँ से बी० ए० "पास" होने में उन्हें ९ वर्ष लग गये। तीन की जगह नौ वर्ष लगने के कारण यह न समझना चाहिए कि वे मन्द-बुद्धि थे। बात यह हुई कि स्कूली पुस्तकें पढ़ने और स्कूली विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के सिवा उन्होंने अन्य अनेक नियमों की शिक्षा प्राप्त करने की चेष्टा की। उन्हें

पढ़ने का कुछ ऐसा चसका लग गया कि डेकन-कालेज के पुस्तकालय की सैकड़ों पुस्तकें उन्होंने पढ़ डालीं। एक और स्कूल में भरती होकर उन्होंने, कुछ समय तक, वनस्पति-विद्या का भी अध्ययन किया। इसी पठनशीलता और बाहरी ज्ञान-सम्पादन की लिप्सा के कारण वे कालेज की पढ़ाई की ओर यथेष्ट ध्यान न दे सके। फल यह हुआ कि पूरे ९ वर्ष तक उनका नाम बी० ए० कक्षा के छात्रों की नामावली में लिखा रहा।

कालेज छोड़ने पर राजवाड़े ने अध्यापनकार्य्य स्वीकार किया। वे एक स्कूल में मास्टर हो गये। पर तीन वर्ष से अधिक वहाँ न रह सके। अपनी छात्रावस्था ही में कालेज में जिसने देशी और विदेशी इतिहास, अर्थशास्त्र, वनस्पति-विद्या, राजनीति, तर्कशास्त्र, धर्म्मशास्त्र आदि का अध्ययन करके अनेक विषयों का ज्ञान-सम्पादन कर लिया था उसका मन लड़कों को शुष्क पाठ पढ़ाने में भला कैसे लग सकता था! विवाह उनका छोटी ही उम्र में हो चुका था। अभाग्यवश कालेज छोड़ने के अनन्तर ही उनकी पत्नी परलोकगामिनी हो गई थीं। इस बन्धन से भी वे मुक्त हो गये थे। अतएव नौकरी पर लात मार कर वे स्वतन्त्र हो गये।

लड़कपन ही से राजवाड़े को अपनी मातृभाषा मराठी पर प्रेम था। दास्यवृत्ति से विमुक्त होकर उन्होंने "भाषान्तर" नामक एक मासिक पुस्तक निकाली। उसमें वे पाश्चात्य देशों के पुराने राजनीतिज्ञों के ग्रन्थों के अनुवाद निकालने लगे। परन्तु अर्थाभाव के कारण उनकी यह पुस्तक बहुत समय तक न चल सकी। उधर जिस प्रेस में वह छपती थी, आग लग जाने से वह भी भस्म हो गया।

इन दुर्घटनाओं से राजवाड़े निराश और हतोत्साह न हुए। घर-गृहस्थी और पुत्र-कलत्र के भार-वहन से उन्हें छुटकारा मिल ही गया था। अतएव ये अपने सर्वोपरि प्यारे विषय इतिहास के मन्थन में जी-जान से लग गये। अपनी छात्रावस्था ही में उन्होंने ग्रांट डफ़ का इतिहास पढ़ डाला था। उस समय भी उसमें उन्हें हज़ारों त्रुटियाँ देख पड़ी थीं। इससे उन्होंने उनका निराकरण कर डालने का दृढ़ सङ्कल्प किया और एक सर्व-त्यागी संन्यासी के सदृश उसकी साधना में वे संलग्न हो गये।

अपने उद्देश की सिद्धि के लिए राजवाड़े ने महाराष्ट्र-देश की खाक़ छान डाली। जहाँ कहीं उन्हें पुराने ऐतिहासिक काग़ज़-पत्रों के होने की ख़बर मिली वहीं वे पहुँचे। बीहड़ से बीहड़ स्थानों तक जाने में उन्होंने सोच-सङ्कोच न किया। पहाड़, जङ्गल, नदियाँ और निर्जन स्थान उनके आवागमन के अवरोधक न हो सके। एक एक चुटके काग़ज़ के लिए उन्होंने दूर दूर की यात्रा पैदल ही समाप्त की। उनका स्वभाव कुछ हठी और सनकी सा था। अँग्रेज़ी सभ्यता से उन्हें चिढ़ सी थी। रेलों से उन्हें नफ़रत सी थी। एक तो अपने इस स्वभाव के कारण, दूसरे निर्धनता के कारण, उन्होंने हज़ारों कोस की यात्रायें प्रायः पैदल ही कीं। रेलों पर सवारी करके उनके मालिक विदेशियों को हम क्यों लाभ पहुँचावें? बात यह कि महाराष्ट्र ही में नहीं, सारे भारत में वे, अपनी उद्देश-सिद्धि के लिए, घूमे। कहाँ पेशावर, कहाँ कन्या-कुमारी, कहाँ बनारस, कहाँ कराची! सर्वत्र ही उन्होंने ऐतिहासिक खोज की। पास टका नहीं। पहनने-ओढ़ने के लिए काफ़ी वस्त्र नहीं। साथ में कोई अन्य आदमी नहीं। परन्तु राजवाड़े ने इन बातों की रत्ती भर भी परवा न की। जहाँ कहीं गये, किसी ब्राह्मण के यहाँ

भोजन कर आये और अपनी उद्दिष्ट वस्तु की खोज में लग गये। शायद ही किसी अन्य इतिहास-प्रेमी अथवा अन्य साहित्य-सेवी ने इतनी लगन से अपनी कार्य्य-सिद्धि में इतनी तत्परता और दृढ़ता दिखाई हो। मनुष्य-गणना के समय आपके सामने एक नक़शा पेश किया गया कि उसमें वे अपना नाम-धाम, पेशा इत्यादि लिख दें। आपको सुनकर आश्चर्य्य होगा। उसमें आपने अपना पेशा लिखा—भिक्षुकी वृत्ति !

राजवाड़े के इस अजस्र उद्योग और अनवरत परिश्रम का फल यह हुआ कि महाराष्ट्र-इतिहास की गाड़ियों सामग्री उनके पास एकत्र होगई। यह सारी की सारी सामग्री पुराने ज़माने के असल काग़ज़-पत्रों के रूप में थी। यह सब तैयारी हो चुकने पर राजवाड़े ने उसके प्रकाशन का काम आरम्भ कर दिया। उन्होंने "मराठ्यांची इतिहासांची साधनें" नाम देकर अपना पहला ग्रन्थ प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ १८९८ ईसवी में निकला। उसमें अठारवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखे गये कोई ३०० असली पत्र उन्होंने छापे और उसके आरम्भ में एक बड़ी ही मार्मिक और महत्त्व-पूर्ण लम्बी प्रस्तावना लिखकर मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का विवेचन किया। इस विवेचन में उन्होंने ऐसी विद्वत्ता दिखाई कि इस पुस्तक के निकलते ही पाठकों पर राजवाड़े की योग्यता और उनकी इतिहासज्ञता की छाप सी लग गई—उनका सिक्का सा बैठ गया। लोगों को तत्काल ही मालूम हो गया कि यह उदीय-मान लेखक सच्चा इतिहास-वेत्ता है और इसके द्वारा मराठों के यथार्थ इतिहास का अवश्य ही उद्धार होगा।

इसके अनन्तर राजवाड़े ने पूर्व-निर्दिष्ट साधनों के सूचक, एक के बाद एक, २१ ग्रन्थ और लिखे। उनका यह काम उनकी

मृत्यु के समय तक प्रायः बराबर जारी रहा। अर्थात् कोई २८ वर्ष में उन्होंने २२ ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन करके मराठों के इतिहास की सच्ची सामग्री अपने देशवासियों के सामने रख दी। यह इतना बड़ा और इतने महत्व का काम निर्धन और निःसहाय राजवाड़े ने बिना किसी की विशेष सहायता के, भिक्षुकी-वृत्ति के भरोसे, कर दिखाया। राजवाड़े, तुम्हारे साहस और तुम्हारे अध्यवसाय को धन्य! तुम अपने नाम और काम दोनों को अमर कर गये। यद्यपि तुमने स्वयं कोई इतिहास नहीं लिखा; तथापि जो कुछ तुम कर गये हो वह अन्य किसी साधन-विशिष्ट पुरुष से भी न किया जा सकता। तुम्हारी एकत्र की हुई ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर, बहुत सम्भव है, कोई अन्य इतिहास-प्रेमी अब, मराठों के शासन समय का एक सच्चा इतिहास लिखकर उन सारे भ्रमों का खण्डन कर दे, जो आज तक के लिखे गये—विशेष करके अँगरेज़ इतिहासज्ञों के द्वारा लिखे गये—इतिहासों में भरे पड़े हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, राजवाड़े अपने ये बाईसों ग्रन्थ अपनी ही मातृभाषा मराठी में लिख गये हैं।

जिन २२ पुस्तकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है उनके सिवा राजवाड़े की लिखी हुई १२ पुस्तकें और भी हैं। उनमें से ६ पुस्तकें इतिहास-विषयक हैं और अवशिष्ट ६ पुस्तकों में उनके फुटकर लेखों का संग्रह है। इस प्रकार सब मिलाकर उनके ग्रन्थों की संख्या ३४ है। अतएव इस प्रकाण्ड परिश्रमी और अद्भुत इतिहास-प्रेमी की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

राजवाड़े केवल इतिहासज्ञ ही न थे। तुलना-मूलक भाषा-शास्त्र में भी उनकी गति थी। प्राचीन भारत की वैदिक सभ्यता

आदि के सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। मराठी-भाषा की क्रियाओं के उद्गम का पता लगा कर वे एक बहुत बड़े कोश की रचना भी करना चाहते थे; एतदर्थ उन्होंने पन्द्रह-बीस हज़ार धातुओं की एक तालिका तैयार कर ली थी। परन्तु निर्दय मृत्यु ने, इस काम की पूर्ति होने के पहले ही, उन्हें इस लोक से लोकान्तर को पहुँचा दिया।

यद्यपि राजवाड़े ने महाराष्ट्र-इतिहास की इतनी निर्व्याज सेवा की तथापि बड़े ही परिताप का विषय है, महाराष्ट्र-देश के जन-समुदाय ने उनको यथेष्ट गौरव न किया। कुछ योंही सी नाम-मात्र की धन-सहायता छोड़ कर और कुछ भी सहायता उन्हें कहीं से भी न मिली। फल यह हुआ कि वे क़र्ज से दबे ही रहे और उन्हें अपनी भिक्षा-वृत्ति ही पर अवलम्बित रहना पड़ा। महाराष्ट्रीय जनों के लिए यह कलङ्क की बात हुई या नहीं; इसका विचार वही लोग कर सकेंगे। इस नोट का लेखक कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि वह उस प्रान्त और उस प्रान्त के निवासियों की यथार्थ स्थिति से यथेष्ट परिचित नहीं।

योरप को राजवाड़े घृणा की दृष्टि से देखते थे और भारत के वर्तमान शासकों और उन शासकों के देशवासियों के प्रति भी वे प्रतिकूल भाव रखते थे। पर अपने सजातीय चित्तपावन ब्राह्मणों की योग्यता के वे बहुत बड़े प्रशंसक थे।

राजवाड़े के विषय में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसे पाठक अतिरञ्जना से मुक्त समझें। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता बाबू यदुनाथ सरकार ने "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित अपने एक लेख में राजवाड़े का गौरव इससे भी अधिक किया है।

[अप्रैल १९२७]

सुल्तान अब्दुलअज़ीज़

इस समय मुराक्को पर योरप की शक्तियों की विशेष कृपा-दृष्टि है। मुराक्को का राज्य-प्रबन्ध अच्छा नहीं। इस कारण मुराक्को के सभ्य और शिक्षित पड़ोसियों को आन्तरिक पीड़ा हो रही है। उनसे मुराक्को की राज्य-दुर्व्यवस्था देखी नहीं जाती। इससे वे उसे सुधारने की फ़िक्र में हैं।

मुराक्को अफ़रीका के उत्तर पश्चिम में है। उसके उत्तर में भूमध्य-सागर और पश्चिम में अटलांटिक महासागर है। उस का असली नाम मराकुश है मुराक्को उसी का अपभ्रंश है। यह देश बहुत पुराना है। इस देशवालों ने योरप की शक्तियों को कई बार परास्त किया है। पर अब उनका वह दिन नहीं। अब ज़माना बिलकुल ही बदल गया है। मुराक्को के पूर्व आल-

जीरिया नामक एक छोटा सा देश है। वह फ्रांस के अधिकार में है। उसे फ्रांस का उपनिवेश कहना चाहिए। पहले वहाँ मुसल्मानी राज्य था। सुलतान रूम उसके सार्वभौम शासक माने जाते थे। पर कई कारणों से, अनेक लड़ाई-झगड़ों के बाद, फ्रांस ने उसे अपने क़ब्ज़े में कर लिया। उस पर दख़ल करके उसने अँगरेज़ों से कहा कि हम यहाँ की दुर्व्यवस्था दूर कर के अपना दख़ल उठा लेंगे। हम सिर्फ़ यहाँ सुधार करने आये हैं। पर कुछ वर्ष बाद फ्रांस ने वहाँ से हटने से इनकार कर दिया। अँगरेज़ों ने इस पर कोई एतराज़ नहीं किया। मिश्र को सुधारने के इरादे से उन्होंने अपना ध्यान उस तरफ़ फेरा। अब फ्रांस को मुराको की अव्यवस्था भी खटकने लगी है। इस कारण उस पर भी दया दिखाने का वह आयोजन कर रहा है। उधर स्पेन भी मुराको का पड़ोसी है। वह भी इस पुण्य-कार्य में शामिल होना चाहता है। जर्मनी यद्यपि दूर है, तथापि अच्छे कामों के लिए दूर या पास का ख़याल नहीं किया जाता। दूर रह कर भी जर्मन-नरेश मुराको की सीमा का दर्शन कर आये हैं और अपने शुभ चिन्तन से मुराको के सुल्तान को ऋणी बना आये हैं।

इन्हीं कारणों से योरप की शक्तियों में मुराको के सम्बन्ध में विषम विवाद हो रहा है। जिब्राल्टर के पास एक जगह आलजिसीरस है। वह स्पेन के अधिकर में है। वहीं सब शक्तियों के प्रतिनिधियों ने जमा होकर मुराको-सम्बन्धी समस्याओं के हल करने की ठानी। सब जमा हुए। महीनों मीमांसा होती रही। जर्मनी ने बड़े बड़े दाँव-पेंच खेले। इससे मीमांसा का सिद्धान्त स्थिर करने में बहुत बिलम्ब हुआ। अब सुनते हैं, सब बातों का निश्चय हो गया है और उस

निश्चय को सुनाने के लिए सभा के कुछ सभ्य मुराको के सुल्तान अब्दुलअज़ीज़ के पास गये हैं।

पाठक कहेंगे, मुराको के सुल्तान अपने देश का सुधार करें या न करें, औरों को दस्तंदाज़ी करने का क्या अधिकार? पर योरप की राजनीति ऐसी नहीं। उसके अनुसार इस तरह दस्तंदाज़ी करना ही न्याय है। वहाँ के नीतिनिपुण कहते हैं कि यदि आपके पड़ोस में दिन रात दंगा-फ़िसाद और मार-पीट हुआ करे तो उससे आपको कुछ तकलीफ़ पहुँचेगी या नहीं? यदि रात रात भर तबला ठनके या आल्हा गाया जाय तो क्या आपको नींद आयगी? यही दशा आप मुराको की क्यों न समझें? वहाँ के कुप्रबन्ध से पास-पड़ोस के देश आजिज़ आ गये हैं। इसलिए वे कहते हैं कि मुराको में ख़ूब अमन-चैन का राज्य स्थापित करके हम अपने घर चले जायँगे और वहीं फिर सुख से सोवेंगे। मुराको के बाग़ियों और डाकुओं के भेरी-नाद से फिर हमारी निद्रा भङ्ग न होगी। इसीलिए यह सारा प्रयत्न है।

जिस मुराको के लिए यह सब बखेड़ा हो रहा है उसका क्षेत्रफल कोई तीन लाख वर्गमील है। क्षेत्रफल में वह फ्रांस के आलजीरिया देश से दूना है। वहाँ की आबादी का ठीक ठीक हिसाब नहीं मालूम हुआ। कई अँगरेज़ ग्रन्थकारों का मत है कि वह कोई ६५ लाख है। अरब, बरबर और यहूदी लोग वहाँ अधिक बसते हैं। हबसी भी कुछ हैं। बिगड़ी हुई अरबी वहाँ की भाषा है। पहले वहाँ कोई विदेशी व्यापार करने न जाने पाता था। परन्तु १८६४ ईसवी में सुल्तान ने एक इक़रारनामा योरप की सब शक्तियों को लिख दिया कि आज से जो योरप-

निवासी चाहे हमारे देश में आकर व्यापार करें। बस, मुराक़ो के दोष देख पड़ने का यहीं से सूत्रपात हुआ।

मुराक़ो के सुल्तान का पूरा नाम है मुलाई अब्दुलअज़ीज़। उनकी पदवी है अमीरुल्मोमनीन। आप जिस वंश के हैं उसका राज १५ पीढ़ियों से मुराक़ो में चला आता है। आपका जन्म २४ फ़रवरी १८७८ को हुआ था। पिता के मरने के बाद, ७ जून १८९४ को, आपने गद्दी पाई। आपकी राजधानी फ़ेज़ नाम का शहर है। सुल्तान अब्दुलअज़ीज़ अपने को अली का वंशज बतलाते हैं। आपके कुमार का नाम है शाहज़ादा हसन।

मुराक़ो में सुल्तान की सत्ता अखण्ड है। वे जो चाहें कर सकते हैं। उनकी इच्छा ही क़ानून है। राजकीय और धार्मिक दोनों विषयों में सुल्तान की आज्ञा ही क़ानून है। अलग अलग महकमों के ६ मन्त्री सुलतान के अधीन हैं। इच्छा होने पर सुल्तान उनसे सलाह ले सकते हैं। पर इसका कोई नियम नहीं कि सब बातें मन्त्रियों से पूंछ कर ही वे करें। सुल्तान की आमदनी कोई ७५ लाख रुपये सालाना है। प्रजा से कर, नज़रें और तोहफ़े इत्यादि लेने से यह आमदनी होती है।

सुल्तान की राजधानी यद्यपि फ़ेज़ में है, पर आप अक़सर और जगह भी रहा करते हैं। आपकी फ़ौज में तोपों की कई बैटरियाँ हैं, रिसाले हैं और कोई दस हज़ार सीखी सिखाई पैदल फ़ौज भी है। कार्इद मैकलिन' नाम का एक अँगरेज़ सुल्तान के यहाँ नौकर है। वही उनकी फ़ौज को क़वायद-परेड सिखलाता है। ये साहब बहादुर फ़ौजी भी काम करते हैं और मुल्की भी। अँगरेज़ लोग इनकी बड़ी तारीफ़ करते हैं। वे

कहते हैं कि इनके सुधार-मार्ग में यद्यपि अनेक कठिनाइयाँ हैं तथापि इन्होंने मुराको की बहुत कुछ उन्नति की है।

सुल्तान को फ़ोटो लेने का बड़ा शौक़ है। आप अच्छे फ़ोटोग्राफ़र हैं। आपने इङ्गलेंड से फ़ोटोग्राफ़ी के बहुत क़ीमती सामान मँगवाये हैं। केमरा सोने का है। उसमें रत्न जड़े हुए हैं। आप केमरा लिए हुए अक़सर फ़ोटो उतारा करते हैं। आपके महल में अनेक बेगमें हैं। उन तक के फ़ोटो आप उतारते हैं। इतना ही नहीं; उन्हें लोगों को दिखलाते भी हैं। अँगेज़ों के सामने ये फ़ोटो अकसर पेश होते हैं। इस बात से सुल्तान के अमीर-उमरा अप्रसन्न हैं। एक तो इस तरह के चित्र उतारना ही मुसलमानी धर्म के ख़िलाफ़ है; दूसरे विकट पर्दे में रहने वाली सुल्तान-बीबियों के चित्र खुल्लम खुल्ला औरों को दिखलाना तो स्वतन्त्रता की हद हो गई। लोग समझते हैं कि सुल्तान में पश्चिमी सभ्यता की बू समा गई है। वे इसे अनुचित समझते हैं।

सुल्तान अब्दुलअजीज़ के दादा एक बार नज़रबाग़ में अपनी बेगमों साथ हवा खाने गये। वहाँ एक कृत्रिम तालाब था। उसमें छोटी छोटी नावें पड़ी थीं। सुल्तान अपनी एक प्यारी बेगम को लेकर एक नाव पर सवार हुए और जल-विहार करने लगे। दुर्दैव से नाव उलट गई। सुल्तान तो किसी तरह निकल आये। पर सुल्ताना डूबने लगीं और मदद के लिए चिल्लाईं। दूर खड़े हुए एक सन्त्री ने उनकी आवाज़ सुनी। वह दौड़ा आया और उन्हें डूबने से बचाया। इस पर बूढ़े सुल्तान बहुत ही अप्रसन्न हुए। उन्होंने बेगम की जान बचाने के उपलक्ष्य में उसका सिर कटवा दिया। सुल्तान की बेगम

मर चाहे जाय; पर उसके बदन पर दूसरे का हाथ न लगे। इन्हीं सुल्तान के पौत्र अपनी असूर्य्यम्पश्या बेगमों के चित्रों की प्रदर्शिनी करते हैं।

सुल्तान को विलायती चीज़ें बहुत पसन्द हैं। उन्होंने मामूली बाइसिकल, मोटर बाइसिकल, मोटरगाड़ी, मोटर-नाव, गुब्बारे इत्यादि चीजें मँगाई हैं। १२ घोड़े की ताक़त रखने वाला एक एंजिन भी उन्होंने मँगाया है। अपने महल के अहाते में ३ मील लम्बी लोहे की पटरी सुल्तान ने बिछवाई है। दो-तीन बहुत ही अच्छी गाड़ियों में इस एञ्जिन को जोड़कर सुल्तान ख़ुद उसे चलाते हैं। गाड़ियों में सुल्तान की बेगमें बैठकर मुसाफ़िरी करती हैं और सुल्तान ड्राइवरी।

सुल्तान अब्दुलअज़ीज़ योरप और अमेरिका के कला-कौशल की बड़ी तारीफ़ करते हैं। सिनिमेटो ग्राफ़ की बदौलत उन्होंने सारे योरप को अपने महल में बुला लिया है। वहाँ के सैकड़ों दृश्य इसी यन्त्र की सहायता से वे देखा करते हैं। लन्दन, पेरिस और न्यूयार्क की सड़कों में गोया वे हर रोज़ घूमा करते हैं।

राजकीय कामों को सुल्तान ख़ुद देखते हैं, सब क़ाग़ज़ात पढ़ते हैं और हुक्म देते हैं। वज़ीरों ही की आँखों से वे नहीं देखते। उन्हें ख़ुशामद पसन्द नहीं। योरप के सर्वसाधारण जनों की राय की वे बहुत परवा करते हैं। यहाँ के अख़बार पढ़ते हैं और जी-जान से अपने देश का सुधार करना चाहते हैं। पर यह सुधार ही लोगों को विष हो रहा है। वे नहीं चाहते कि योरप की शिक्षा और सभ्यता का प्रचार वहाँ हो। ऐसे ही अनेक कारणों से सुल्तान का एक प्रतिपक्षी खड़ा हो गया है।

वह अकसर दङ्गे-फ़िसाद किया करता है। उसने कुछ फ़ौज भी इकट्ठी कर ली है। इस कारण मुराको में कहीं कहीं अराजकती फैल गई है।

अँगरेज़-ग्रन्थकारों की राय है कि सुल्तान की योग्यता में कुछ कसर नहीं। वे शिक्षा, सभ्यता और कलाकौशल के पक्षपाती हैं। पर प्रजा पर उनकी बात का असर कम पड़ता है। सुल्तान के अमीर उमरा और अधिकारी विश्वास-पात्र नहीं। वे प्रजा-पीड़क हैं। चाहे जिस तरह से हो रुपया कमाना ही उन का एक मात्र उद्देश रहता है। अधिकार की जगहें बिकती हैं। जो सबसे अधिक देता है वही पाता है। गवर्नरी तक बिकती है। इसी तरह ऊँचे से ऊँचे पद से लेकर नीचे से नीचे पद तक का क्रय-विक्रय होता रहता है। यदि सुल्तान प्रजा पर किसी निमित्त एक हज़ार रुपये कर लगाते हैं तो उसका कई गुना प्रजा को देना पड़ता है। कुछ गवर्नर बढ़ा देता है, कुछ कमिश्नर, कुछ ज़िले के हाकिम। इसी तरह उसकी ख़ूब बृद्धि हो जाती है। हर एक बड़े अधिकारी के अधीन एक एक जेल रहता है। जो कोई उसे अप्रसन्न करता है वह उसीमें ठूँसा जाता है। यदि प्रजा से तीन रुपये कर वसूल किया जाता है तो सिर्फ़ एक रुपया सुल्तान के ख़ज़ाने में पहुँचता है। इसीसे मुराको की दशा अच्छी नहीं।

योरप की शक्तियों को मुराको की यह दुरवस्था असह्य हो गई है। इसीसे आलजिसीरस में सभा करके वे उसे दूर करना चाहते हैं,—"परोपकारः' पुण्याय"।

[मई १९०६]

——

अमीर हबीबुल्लाख़ाँ

अफ़ग़ास्तिान में ५ सूबे हैं:—हिरात, कन्धार, काबुल, अफ़गानी तुरकिस्तान और बदख़शाँ। क्षेत्रफल ३,००,००० वर्गमील है। आबादी कोई ६०,०८,००० है। उसकी हद रूस से मिली हुई है। इसीलिए अँगरेज़ी गवर्नमेंट अमीर अफ़ग़ास्तिान की इतनी ख़ातिर तवाजो करती है। यदि अमीर साहब रूस से मिल जायँ तो रूस का हिन्दुस्तान की सीमा पर पहुँचना आसान बात है।

१८०९ में अँगरेज़ों को सन्देह हुआ कि रूस इस देश पर चढ़ाई करना चाहता है। इसलिए अफ़ग़ानिस्तान के तत्कालीन अमीर शाह शुजा से सन्धि की गई। पर १८२६ में जब दोस्त-मुहम्मद काबुल का अमीर बन बैठा तब उसने रूस से मित्र-

भाव बढ़ाया। सन्धि उसने तोड़ दी। इसलिए अँगरेज़ों ने १८३८ में अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई की और काबुल और कन्धार को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। शाह शुजा को फिर काबुल का सिंहासन मिला। परन्तु १८४१ में दोस्तमोहम्मद ने शाह शुजा से काबुल फिर छीन लिया, और १८४०—१८४२ में अँगरेज़ों पर बड़ी भारी विपत्ति आई। बहुतसे अँगरेज़ अफ़ग़ानों के हाथ से मारे गये।

इसके बाद दोस्तमुहम्मद ने फिर अँगरेज़ों से सुलह कर ली और अँगरेज़ उसे बारह लाख रुपये साल देने लगे। अँगरेज़ों का एक एलची भी काबुल में रहने लगा। दोस्तमुहम्मद ने अपने बेटे शेरअली को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसका प्रतिवाद उसके दूसरे बेटे मुहम्मद अफ़ज़लख़ाँ ने किया। इस कारण १८६३ के बीच इन दोनों में लड़ाइयाँ होती रहीं। शेरअली को जीत हुई। काबुल की गद्दी पर बैठने के बाद अँगरेज़ों ने उसकी भी मदद रुपये और हथियारों से की। उसने अपने बेटे अबदुल्ला-जान को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा। पर इस बात को अँगरेज़ों ने नामंजूर किया और याक़ूबख़ाँ का पक्ष लिया। इस पर शेरअली ने याक़ूब को क़ैद कर लिया और अँगरेज़ों से मुख़ालिफ़त शुरू की। शेरअली ने रूस को अपना दोस्त बनाया। इस कारण, १८७८—७९ में अँगरेज़ों ने काबुल पर चढ़ाई की। शेरअली भगा। अँगरेज़ों ने कन्धार पर दख़ल कर लिया। याक़ूबख़ाँ काबुल का अमीर बनाया गया। उसके अमीर होने पर अँगरेज़ों ने अपने कई अफ़सर काबुल भेजे और याक़ूबख़ाँ से एक सन्धि-पत्र लिखाना चाहा; पर अफ़ग़ानों ने अँगरेज़ अफ़सरों और उनके साथियों को काट डाला इसलिए १८८० ईसवी में तीसरी

दफ़े अफ़ग़ानिस्तान से लड़ाई हुई। याकूबख़ाँ की हार हुई। वह भाग गया।

इस दरमियान में अफ़ज़लख़ाँ के बेटे अब्दुर्रहमान ने रूस की मदद से अफ़ग़ानिस्तान की तरफ़ प्रस्थान किया। अँगरेज़ों ने इस बात को पसन्द किया। अब्दुर्रहमान काबुल पहुँचा। अँगरेज़ों ने उसके अमीर बनने में कोई बाधा न डाली। अतएव वह अमीर होगया। इसके कुछ दिन बाद, १८८० में, लार्ड रिपन ने अमीर से कहा कि यदि वह किसी बाहरी बादशाह से सम्बन्ध न करें और अंगरेज़ी गवर्नमेंट की सलाह से काम करें तो अँगरेज़ महाराज बाहरी शत्रुओं से उनकी हमेशा रक्षा करेंगे। अमीर अब्दुर्रहमान ने यह बात मंजूर कर ली। इससे गवर्नमेंट ख़ुश हुई और, १८८३ ईसवी में, लार्ड रिपन ने अमीर को दस लाख रुपये साल देना क़बूल किया। किस लिए? फ़ौज के ख़र्च और अफ़ग़ानिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा को ख़ूब मज़बूत करने के लिए। १८८५ में लार्ड डफरिन ने एक दरबार किया। उसमें उन्होंने अमीर साहब को दस लाख रुपये नक़द २०,००० बृच लोडिंग बन्दूकें, तीन तोपख़ाने और बहुत सी गोली-बारूद दी जाने की आज्ञा दी। इस उपलक्ष्य में अमीर ने अँगरेज़ों से मित्र-भाव रखने, मौक़ा पड़ने पर उनकी मदद करने और उत्तर-पश्चिमी सीमा को ख़ूब मज़बूत करने का वचन दृढ़ कर दिया। कुछ दिन बाद अमीर को इसके बदले बारह लाख रुपये साल मिलने लगे। पीछे से १२ के अठारह लाख हो हो गए। लड़ाई का सामान भी बाहर से मँगाने की आज्ञा उन्हें मिल गई।

अमीर अब्दुर्रहमान ने अनेक सुधार किये। काबुल में कितने ही कारख़ाने खोले। एक सिलहखाना भी खोला। तोपें

बनने लगीं। नई तरह की रफ़लें तैयार होने लगीं। फ़ौज को क़वायद सिखलाई जाने लगी। क़िले बनने लगे। पुराने क़िलों की मरम्मत होने लगी। बाहर से हथियारों के ढेर के ढेर आने लगे। सारांश यह कि अमीर ने अफ़ग़ानिस्तान की दशा तथा-शक्य ख़ूब सुधार दी। फौज बढ़ा दी। पहाड़ी सरदारों और मुल्लाओं के पारस्परिक झगड़ों को बहुत कुछ दूर कर दिया। व्यापार की भी तरक्क़ी की। देश में जो सर्वत्र लूट-खसोट हुआ करती थी वह बन्द हुई। क़ानून की नई नई किताबें बनीं। उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान को बिलकुल ही नया कर डाला। यद्यपि अमीर के और अँगरेज़ी राज्य-प्रबन्ध में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि डाक्टर हैमिल्टन का मत है कि आज कल का अफ़ग़ानिस्तान दोस्तमुहम्मद और शेरअली का अफ़ग़ा-निस्तान नहीं। अब वहाँ ख़ूब शान्ति है। अब वहाँ अनेक ऐसे सुधार हो गये हैं जिनसे प्रजा के सुख की वृद्धि पहले की अपेक्षा बहुत कुछ अधिक हो गई है। अमीर अब्दुर्रहमान कठोर शासक थे। कठोरता की ज़रूरत भी थी। महा बर्बर अफ़ग़ान-जाति का सुधार कोमलता से होना असम्भव था। अतएव कठोर शासन-नीति के लिए अमीर दोषी नहीं ठहराये जा सकते। हैमिल्टन साहब बहुत वर्षों तक काबुल में अमीर के डाक्टर रह चुके हैं। अतएव उनकी राय को सब लोग मान्य समझते हैं।

धीरे धीरे अब्दुर्रहमान ने अपने राज्य को ख़ूब दृढ़ कर दिया। जैसे-जैसे आपकी शक्ति बढ़ती गई आपका दिमाग़ भी बढ़ता गया। इन्हीं कारणों से, गवर्नर जनरल ने जब कुछ फ़ौजी सामान का अफ़ग़ानिस्तान में भेजा जाना रोक दिया, तब अमीर ने क्रोध में आकर गवर्नमेंट से १८ लाख रुपया लेने

से इनकार कर दिया। यहाँ तक कि आपने सरहद में थोड़ी सी फ़ौज भी भेज दी। आपने गवर्नर जनरल की शिकायत की। शिकायत लिख कर आपने ठेठ विलायत में प्रधान मन्त्री, लार्ड सैलिस्बरी, के पास भेजी। १८९० और १८९८ के बीच आप अँगरेज़ी गवर्नमेंट से बहुत ना.खुश रहे। तीरा-युद्ध के समय आपने गवर्नमेंट की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम किये। पीछे से मरने के पहले, आप कुछ शान्त हो गये थे।

अब्दुर्रहमान के बाद हबीबुल्लाख़ाँ अमीर हुए। आपका जन्म समरक़न्द में, १८७२ ई० में हुआ था। आप फ़ारसी के सिवा थोड़ी अँगरेज़ी भी जानते हैं। अँगरेज़ी समझ अच्छी तरह सकते हैं; पर बोल कम। जब अँगरेज़ों से बातचीत करते हैं तब कभी फ़ारसी और कभी अँगरेज़ी बोलते हैं।

अमीर हबीबुल्ला स्वाधीन प्रकृति के शासक हैं। आपने अफ़ग़ानिस्तान का राज्य-सूत्र अपने हाथ में लेकर अँगरेज़-राज की अधीनता का ख़याल अपने दिल से थोड़ा बहुत दूर कर दिया। गवर्नमेंट ने आपको कई दफ़े हिन्दुस्तान आने के लिए आमन्त्रण दिया। पर आप आने से इनकार ही करते रहे। आपने एक बार भरे दरबार में कह दिया कि आप अपने पिता के विचारों का अनुसरण करेंगे; पर अब्दुर्रहमान पर अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने जो उपकार किये हैं वे उन्हों के साथ गये। आपने अपने को सब तरह स्वाधीन समझा और बाहर से लड़ाई का सामान मँगाने की स्वतन्त्रता का भी दावा किया। आख़िरकार, १९०४ में, गवर्नमेंट को डेन साहब की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि-दल अफ़ग़ानिस्तान भेजना पड़ा। उसका फल अमीर के लिए अच्छा ही हुआ। गवर्नमेंट से जो

१८ लाख रुपया साल अमीर को मिलता था वह कई साल से अमीर ने नहीं लिया था। सब मिलाकर ६० लाख रुपया गवर्नमेंट को देना निकला। वह सब अमीर ने लिया। १८ लाख रुपया साल पूर्ववत् अमीर को देना गवर्नमेंट ने मंजूर किया। तोप, बन्दूक़, गोला, गोली आदि लड़ाई का सामान भी मनमाना मँगाने के लिए अमीर के दावे को गवर्नमेंट ने क़बूल कर किया। गवर्नमेंट ने अमीर हबीबुल्ला को स्वाधीन शासक भी माना। यह पिछली बात अमीर के लिए बड़े महत्त्व की हुई। इन बातों के बदले गवर्नमेंट को भी अमीर से कुछ मिलना था; पर अमीर ने कुछ न दिया। आपने अपने पुत्र इनायतुल्लाख़ाँ को लार्ड कर्ज़न से मिलने ज़रूर भेज दिया। बस, अमीर साहब ने गवर्नमेंट के पूर्वोक्त सत्कृत्यों का यही बदला दिया। गवर्नमेंट को लाचार होकर इतने ही से सन्तोष करना पड़ा।

गवर्नमेंट अमीर से कहती है कि बाहरी शत्रुओं से अफ़ग़ानिस्तान की रक्षा का भार हमने अपने ऊपर लिया है। इसलिए हमें काबुल और क़न्धार तक रेल बनाने दो। तार भी हमें बड़े-बड़े शहरों तक ले जाने दो। अपनी फ़ौज में अँगरेज़-अफ़सर रक्खो। यदि ये बातें न करोगे तो हम आपकी उत्तरी सरहद की रक्षा कैसे कर सकेंगे? यदि रूस अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई करे तो बिना रेल, तार और अच्छी फ़ौज के, ५०० मील दूर, हिन्दुस्तान से उसके मुक़ाबिले का कैसे प्रबन्ध हो सकता है? इसलिए अमीर साहब के निज के फ़ायदे ही के लिए, हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट रेल, तार, आदि बनाने की आज्ञा माँगती है। अपने फ़ायदे के लिए नहीं।

जिन अमीर हबीबुल्ला का अँगरेजी गवर्नमेंट इतना आदर करती है, जिनके देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा का उसे इतना ख़याल है, वही, इस महीने, इस देश में, अँगरेज़-महाराज के मिहमान होकर आये हैं। बहुत कहने-सुनने पर आपने भारत में पदार्पण किया है। आपकी मिहमानदारी का जी-जान होकर गवर्नमेंट प्रबन्ध कर रही है। "ज़ियाफ़त" आदि के लिए रुपयों के तोड़े के तोड़े गवर्नमेंट के ख़र्च हो रहे हैं। आगरे में दरबार हो रहा है। फ़ौजें दिखाई जा रही हैं। खेल-तमाशे हो रहे हैं। कल-कारख़ानों की सैर कराई जा रही है। आशा है इन सब बातों से अमीर साहब के हृदय पर गवर्नमेंट की शक्ति, प्रभुता और उदारता का ख़ूब अच्छा चित्र खिंच जायगा और आगे से वे गवर्नमेंट के दृढ़ मित्र बन कर उसकी सलाह से सब काम करेंगे। [अमीर हबीबुल्ला मर चुके। अब उनके पुत्र अमीर अमानुल्लखाँ अफ़ग़ानिस्तान के सर्वेसर्वा हैं। वे बड़े ही नीतिनिपुण, प्रजावत्सल और सभ्यताभिमानी शासक हैं]

[जनवरी १९०७

११—फ़ारस के शाह मुजफ़्फ़रुद्दीन

फ़ारस में रूस की प्रभुता बढ़ने के चिह्न देख कर अँगरेज़ों का चित्त उस ओर आकर्षित हुआ है। रूस ने फ़ारस को एक बार भारी शिकस्त दे कर उसका बहुत सा देश छीन लिया है। इस पर भी यदि फ़ारस रूस की ओर झुके तो आश्चर्य की बात है। पर अब झुक नहीं सकता। क्योंकि फ़ारस विषयक राजनैतिक रहस्यों में इङ्गलैंड और रूस दोनों ने, मिल कर योग देने का आपस में फ़ैसला कर लिया है। फ़ारस की खाड़ी के किनारे जास्क, बन्दर अब्बास और बू शहर आदि स्थानों में अँगरेज़ी प्रजा जाकर बस गई है और वहाँ व्यापार करती है। और और कारणों के सिवा यह भी एक कारण है जिससे बृटिश राज्य का प्रभुत्व इस खाड़ी में बना रहना ही चाहिए। ऐसा न होने से और कोई शक्ति अपना दबदबा वहाँ जमा लेगी

और जल-मार्ग से भारत के बहुत निकट आ जायगी। यह कदापि इष्ट नहीं। इसीलिए अँगरेज़ी प्रभुत्व की घोषणा देने को दिसम्बर १९०३ में लार्ड कर्ज़न इस खाड़ी के कई स्थानों में पधारे थे।

फ़ारस बहुत पुराना राज्य है। वहाँ ईसा के कई सौ वर्ष पहले होने वाले बादशाहों तक का हाल इतिहास में पते बार मिलता है। जिस समय ग्रीस ने योरप को अपनी विद्या और बल से चकित किया था उस समय भी फ़ारस उन्नत था। उससे कई बार ग्रीस की टक्कर हुई है। परन्तु थर्मापिली की घाटी में जब से ग्रीस वालों ने फ़ारस की अनन्त सेना काट डाली तब से फ़ारस का ज़ोर कम हो गया। फ़ारस ने इस देश पर भी कई बार कृपा की है। सबसे पहले दारा ने इस ओर प्रस्थान किया, परन्तु दूर तक वह इस देश में प्रवेश न कर सका। नादिर ने जो हत्याकांड देहली में किया और जो सम्पदा यहाँ से लूट ले गया वह तो अभी कल की बात है। तेहरान में देहली का तख़्त ताऊस इसकी गवाही दे रहा है।

नये और पुराने फ़ारस में आकाश-पाताल का अन्तर है। पुराने फ़ारस का विस्तार बहुत अधिक था। वह अब कट छँट कर छोटा हो गया है। तिस पर भी उसका क्षेत्रफल प्रायः ६,१०,००० वर्गमील और आबादी प्रायः ९०,००,००० है। फ़ारस में फ़ौज कुल १,००,००० है; परन्तु शान्ति के समय केवल २४,००० रहती है। फ़ारस के पास जल-सेना बहुत ही कम है। सामरिक सामान से सजे हुए कुल दो या तीन जहाज़ और एक धुवाँकश है।

फ़ारस में और फल तो होते ही हैं; परन्तु अंगूर बेहद होता है। उसकी शराब बनती है। उसके लिए शीराज़ सबसे अधिक

मशहूर है। इस्फहान में भी उसका बड़ा व्यापार होता है। फ़ारस में क़ालीन बहुत अच्छे बनते हैं। किसी किसी का तो मत है कि वहाँ के क़ालीनों की बराबरी और कोई देश नहीं कर सकता। वे अद्वितीय और अनुपमेय होते हैं। ख़ुरासान, फ़रग़ाना और किरमान के क़ालीन सबसे बढ़िया होते हैं। शाल भी फ़ारस में बनते हैं। यद्यपि काश्मीर के बने हुए शालों की वे बराबरी नहीं कर सकते, तथापि वे भी असाधारण ही होते हैं।

फ़ारस में छोटे-बड़े सब दस सूबे हैं। उनमें से अज़रबैज़ान, ख़ुरासान, सीस्तान, मज़न्दरान; ज़ंजान और अस्तराबाद मुख्य हैं। फ़ारस में तुर्क और फ़ारसी ही अधिक बसते हैं; परन्तु अरब और यहूदी भी कहीं कहीं हैं। किरमान में थोड़े हिन्दू भी हैं। वहाँ एक जगह यज़्द है। उसमें फ़ारस के प्राचीन अग्नि-पूजक भी कुछ हैं।

गत जनवरी में फ़ारस के शाह मुजफ़्फ़रुद्दीन की मृत्यु हो गई। आपका ख़िताब था शाहन्शाह। फ़ारस के सभी शाह शाहन्शाह कहलाते हैं। आपका जन्म २५ मार्च १८५३ को हुआ था। पिता शाह नसीरुद्दीन के मारे जाने पर आपको, १ मई १८९६ को, राजासन मिला था। आपका वंश-वृक्ष बहुत बड़ा है। फ़ारस के शाह अपनी उत्पत्ति नूह के बेटे जाफेट से बतलाते हैं। इस राज्य की नींव साइरस नाम के प्रतापी पुरुष ने डाली। उसे दादा और जरकश ने अपनी तलवार के ज़ोर से दृढ़ किया। फ़ारस की प्रजा अपने शाह को ईश्वर की छाया, स्वर्ग की सीढ़ी और विज्ञान का उत्ताल-तरङ्गमय समुद्र समझती है। शाह अपनी प्रजा के धन और प्राण दोनों के प्रभु होते हैं। रत्नादि में

तो शाह की बराबरी योरप और एशिया का कोई बादशाह, शाहन्शाह या राजा नहीं कर सकता। शाह की निज की सम्पत्ति बहुत करके रत्नमय ही है। उनके 'दरियानूर' नामक हीरे का वज़न १८६ कैरट (४ तोला १ माशा है); और 'ताजे-माह' का १४६ कैरट (३ तोला २ माशा ४ रत्ती) है। शाह के १२ लड़कियाँ और ६ लड़के हैं। यह संख्या १९०२ तक की है। आपके युवराज मुहम्मदअली मिर्ज़ा अब आपकी गद्दी पर बिराजे हैं। इनका जन्म १८७२ ईसवी का है। सुनते हैं, शाह के बहनें भी उतनी ही हैं जितनी कि उनके लड़कियाँ हैं और भाई भी उतने ही जितने उनके लड़के हैं। यदि यह सच है तो बात बड़ी अजीब मालूम होती है।

मृतशाह के पिता शाह नसीरुद्दीन का शरीर ख़ूब लम्बा चौड़ा था। उनके चेहरे पर रोब, वीरता और पुरुषार्थ झलकता था। आपको शिकार का बड़ा शौक़ था। राजधानी छोड़ कर आप बहुधा पहाड़ों पर कुत्ते और शिकारी चिड़ियाँ लिये हुए घूमा करते थे। जब आपको राज्य मिला तब आप केवल तुर्की भाषा जानते थे। परन्तु थोड़े ही दिनों में आपने फ़ारसी लिखना-पढ़ना ब.ख़ूबी सीख लिया, और फरासीसी और अरबी में भी थोड़ा बहुत अभ्यास कर लिया। आपने दो बार इँगलेंड की सैर की। एक बार १८७३ में, दूसरी बार १८८६ में। शाह प्रजाप्रिय थे, वीर थे; राज्य-प्रबन्ध में पूरी योग्यता रखते थे; परन्तु आपका मिजाज़ कुछ लड़कों का सा था। विलायत में आपने एक दफ़े बहुत सी पैरगाड़ियाँ ख़रीदीं। उनमें एक एक गाड़ी आपने अपने साथ आये हुए एक एक अमीर को दी और कहा इस पर चढ़िये। उन लोगों को चढ़ने का बिलकुल अभ्यास न था। परन्तु शाह की आज्ञा कैसे उल्लङ्घन की जा

सकती थी ? वे चढ़े कि धड़ाम धड़ाम नीचे आ रहे ! विलायत से रबर की एक नाव भी आप तेहरान लाये। वहाँ उसके नीचे की डाट निकाल कर अपने कई अमीरों को उस पर सवार कराया और शाही बाग़ के तालाब में उसे चलाने का हुक्म दिया। ज़रा देर में वह पानी के भीतर हो रही और अमीराना पोशाक पहने हुए उसके सवार गोते खाने लगे। शाह के कई बेगमें थीं। उनमें से एक की बहन से आपने नई शादी करनी चाही। इस पर सब बेगमें बिगड़ उठीं। उन्होंने गड़बड़ मचाया और कहा कि यदि यह शादी होगी तो हम अँगरेज़ी ध्वजा के नीचे चली जायँगी और तेहरान के अँगरेज़ एलची के यहाँ जा रहेंगी। यदि ऐसा होता तो अँगरेज़ एलची बड़े ही असमन्जस में पड़ता। परन्तु ख़ैर हुई, ऐसा नहीं हुआ। तथापि बुड्ढे शाह ने शादी करके छोड़ा।

कन्धार के एक अमीर के भड़काने से शाह नसीरुद्दीन ने १८५६ ईसवी में अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर दी और हिरात दख़ल कर लिया। इस कारण अँगरेज़ों को फ़ारस पर सेना भेजनी पड़ी। इस सेना ने पहुँचते-पहुँचते कर्क का टापू और बूशहर ले लिया; रिशिर के क़िले पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। फिर अँगरेज़ी सेना शीराज की ओर बढ़ी और ख़ुशाब में फ़ारस वालों को उसने एक शिकस्त दी। इतने ही में सन्धि होगई। तब से अँगरेज़-प्रभुओं की प्रभुता फ़ारस की खाड़ी में बराबर बनी हुई है। इसको लार्ड कर्ज़न ने नई कर दिया है। लड़ाई के बाद ही कराची से तेहरान होकर, थल-मार्ग से, विलायत को तार लगाया गया। वह बराबर काम दे रहा है। उसके द्वारा एक घंटे से भी कम समय में लन्दन और कलकत्ते के बीच, ख़बरें आती-जाती हैं।

शाह नसीरुद्दीन अपनी मौत से नहीं मरे। उनको एक हत्यारे ने मार डाला था। शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन पर भी एक दुष्ट ने गोली छोड़ी थी, परन्तु आप बच गये और वह हत्यारा पकड़ा गया। यह उस समय की बात है जब शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन इङ्गलैण्ड गये थे। लन्दन की एक गली में यह हादसा हुआ। अपने पूर्वजों के समान ये शाह भी बड़े शिकारी थे। साहस और वीरता भी आप में ख़ूब थी। किसी-किसी का मत है कि शाह में अपना राज्य सँभालने की यथोचित योग्यता नहीं थी; शारीरिक शक्ति भी उनमें कुछ कम थी; बुद्धि भी उनकी तीव्र न थी। परन्तु लार्ड कर्ज़न इस राय के ख़िलाफ़ हैं। उन्होंने फ़ारस में बहुत दिनों तक सैर की है और एक किताब भी उस पर लिखी है। इस किताब का बड़ा मान है। लाट साहब ने इस किताब में लिखा है:—'शाह समझदार नरेश हैं, उनकी बुद्धि भी मन्द नहीं; वे इतिहास में पूरे दक्ष हैं; वनस्पति-शास्त्र का भी उन्हें ज्ञान है; स्वभाव भी उनका बुरा नहीं। राज्य के कामों में जो उनको ज़रा कम अनुभव है, उसका कारण है। शाह नसीरउद्दीन ने उनको राजधानी से दूर एक ऐसे सूबे का गवर्नर जनरल बनाया था जहाँ उनको राज्य के गुरुतर कार्य्यों में हाथ डालने या अपनी राय देने, या और कुछ करने का अवसर ही नहीं मिला। फिर उनको इन बातों की विज्ञता कैसे प्राप्त होती? उनको निज के ख़र्च के लिए जो कुछ मिलता था वह भी काफ़ी न था; उनको बहुधा क़र्ज़ लेना पड़ता था। ४० वर्ष की उम्र तक वे इसी दशा में, अज़र-बैज़ान में, पड़े रहे। इसलिए यदि उनके स्वभाव और उनकी समझ में कोई दोष पाये जाँय तो उन्हें स्वाभाविक नहीं समझना चाहिए।"

शाह मुज़फ्फ़रुद्दीन योरप के नरेशों की राजनीति का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा किया करते थे। कोई भी योरप का विद्वान अथवा अधिकारी जो वहाँ जाता था उसकी वे ख़ातिर करते थे, और उससे अनेक विषयों पर वार्तालाप भी करते थे। दस ग्यारह बजे, खाना खाने के बाद, आप कुछ देर आराम करते थे। अनन्तर आप थोड़ी सी चाय पी कर तार का यन्त्र चलाते थे। आपने तार का काम सीखा था और उससे ख़बर भेजने का आपको बड़ा शौक़ था। शाह को फ़ोटोग्राफ़ी में भी ख़ूब अभ्यास था। आपके लिये हुए अनेक अच्छे अच्छे फोटो हैं। हर पोशाक और हर सूरत में आपने अपने भी फोटो उतारे थे। यहाँ तक कि लेटे लेटे भी आपकी तसवीर उतारी गई थी। शाह मुज़फ्फ़रुद्दीन भी दिल्लगी-पसन्द नरेश थे। आपके ज़ेर साये कितने ही मसख़रे मजे उड़ाते रहे हैं। अनेक प्रकार के क़िस्से-कहानियाँ कह कर और अजीब-अजीब तरह की बातें सुनाकर वे शाह को हँसाते थे।

शाह मुजफ्फ़रुद्दीन ने गद्दी पर बैठते ही रोटी और मांस पर का कर उठा दिया। इससे उनका बड़ा नाम हुआ। प्रजा प्रसन्न हो गई। शाह को रुपये की बड़ी ज़रूरत थी। उन्होंने इंगलेंड से क़र्ज़ माँगा। इङ्गलेंड वालों ने क़र्ज़ देना तो मंजूर किया; पर शर्तें बेढब करनी चाही। इससे लाचार होकर शाह ने रूस से ३॥ करोड़ रुपया क़र्ज़ लिया। यह बात अँगरेज़ों को अच्छी नहीं लगी। इस ऋण के कारण रूस की प्रभुता फ़ारस में बढ़ गई। रूस और फ़ारस के दरमियान व्यापार-विषयक एक सन्धिपत्र भी लिखा गया। इसका असर जो फ़ारस पर हुआ वह यदि जाता नहीं रहा, तो बढ़ने का भी नहीं; क्योंकि

इंगलेंड और फ़ारस के दरमियान अब व्यापार-विषयक एक दस्तावेज़ लिखी गई है।

शाह मुजफ्फ़रुद्दीन ने, १९०० में, रूस और फ्रांस की सैर की और १९०१ में इङ्गलेंड की। वहाँ उन्होंने जो राजनैतिक अनुभव प्राप्त किया उसका फल फ़ारस की नवजात पारलियामेंट है। फ़ारस के शाह अपार सम्पत्ति के स्वामी हैं। उनके शाही महलों में जेवर और जवाहिरात का अन्त नहीं। देहली का तख़्तताऊस आपही की सम्पदा है। तेहरान में एक ख़ास महल है उसे सम्पत्ति-सागर कहना चाहिए। श्रीमती विशप ने फ़ारस पर एक किताब लिखी है। उसमें वे कहती हैं कि इस महल का वह दीवान-खाना, जिसमें शाह के रत्नादि रक्खे हैं, दुनिया भर के सबसे सुन्दर स्थानों में से एक स्थान है। उसके बीच में एक सुवर्ण-खचित मेज है। सोने ही के काम की कुर-सियाँ भी कमरे में चारों ओर रक्खी हैं। बहुमूल्य मेजों के ऊपर और काँच की आलमारियों के भीतर, शाह के अनेक मुकुट और असंख्य रत्न जमा हैं। हीरे, मोती, लाल, नीलम पुखराज, सैकड़ों प्रकार के सोने के पात्र, रत्नों से खचित कटार और तलवार, लाल और जमुर्रद जड़े हुए मुकुट, हीरे लगी हुई ढालें भाँति-भाँति के रत्नों से लबालब भरी हुई रक़ा-बियाँ, देख कर देखनेवाला हैरत में आ जाता है। उनकी शोभा उनकी बहुमूल्यता, उनकी अनन्तता अवर्णनीय है। उस सम्पत्ति को देखना एक सपना सा है। परन्तु उसे जो देखता है वह भूलता नहीं। १२ इञ्च चौड़ी और तीन फुट ऊँची कितनी ही आलमारियाँ ऐसी हैं जिसमें सिवा हीरे, लाल, पुखराज और नीलम के कोई चीज़ नहीं। उनसे जो रङ्ग-बिरंगी किरणें निक-लती हैं उनकी शोभा देखते ही बनती है; वह वर्णन का

विषय नहीं । किसी-किसी जगह पर ये रत्न यों ही ढेर हैं ; क़ायदे से रक्खे भी नहीं गये । वहाँ पर पृथ्वी का एक गोला (Globe) है । वह बहुत ही अद्भुत वस्तु है । उसका व्यास २० इञ्च है । उसकी बैठक और याम्योत्तर-वृत्त ठोस सोने के हैं; उन पर लाल जुड़े हुए हैं । उसकी भूमध्य रेखा हीरों की है । देशों की सीमायें दिखलाने में लाल लगाये गये हैं; परन्तु फ़ारस के लिए हीरों से काम लिया गया है । जहाँ समुद्र है वहाँ नीलम जड़े हुए हैं । इतने रत्न मानों काफ़ी नहीं समझे गये; इसलिए गोले की जड़ में, तीस तीस अशरफ़ी के बराबर वज़नी बड़े-बड़े सोने के सिक्के, इकट्ठे कर दिये गये हैं । इस समय फ़ारस के नरेश की सम्पत्ति का जब यह हाल है तब दारा, ज़रकस, ख़ुसरो, शाहरुख, शाहअब्बास और नादिर-शाह के समय में, न मालूम, क्या हाल रहा होगा । तख़्ते-ताऊस एक अलग कमरे में है । उसे नादिरशाह देहली से लूट ले गया था । औरंगज़ेब के समय में टेवरनियर नामक एक फ़रासीसी इस देश में आया था । उसने इस तख़्त को देखकर इसका वर्णन लिखा था । उसी वर्णन का सारांश देकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे । सुनिए—

"तख़्ते-ताऊस ६ फुट लम्बा और ४ फुट चौड़ा है । उसमें ४ पाये हैं; वे कोई २५ इञ्च ऊँचे हैं । उस पर १२ खम्भे हैं, जो तीन तरफ़ से उसके ऊपर, शामियाने को थाँभे हैं । तख़्त के पाये और पटियों पर सोने का पत्र है; उस पर अद्भुत काम है और बेशुमार हीरे, लाल और पुखराज जड़े हुए हैं । हर एक पाये पर बीच में एक लाल है । उसकी तराश तिकोनी है । उसके चारों ओर चार पुखराज जड़े हैं । इसी तरह सब पटियों पर, थोड़ी थोड़ी दूर पर लाल और पुखराज पच्ची

किये गये हैं। और, एक जगह पुखराजों के बीच में लाल है तो दूसरी जगह लालों के बीच में पुखराज। पुखराजों और लालों के बीच में जो जगह खाली है उस पर हीरे जड़े हुए हैं। कहीं कहीं सुवर्ण खचित मोती भी हैं। तख़्त पर चढ़ने के लिए एक तरफ़ ज़ीना है, उस पर कई सीढ़ियाँ हैं। एक तलवार, एक ढाल, एक कमान, तीरों से भरा हुआ एक तरकस, ये सब तख़्त से लटकते हैं। ये शस्त्र और ज़ीने की सीढ़ियाँ सब जवाहिरात से टकी हैं। छत्र के नीचे का हिस्सा हीरों और मोतियों से जड़ा है; उसके चारों ओर मोतियों की झालरें हैं। तख़्त के पीछे जो तकिया है उस पर इतने जवाहिरात जड़े हैं कि उन को गिनने के लिए बहुत वक़्त दरकार है। उस पर जो मोर बना है वह अत्यन्त अद्भुत है। उसकी दुम फैली हुई है और कई रङ्ग के रत्नों से बनाई गई है। मोर का बदन सोने का है। उसकी छाती पर एक बहुत बड़ा लाल लगा है। छाती में एक तोले से भी अधिक वज़नी एक पीले रङ्ग का विलक्षण मोती लटकता है। इस मोर के दोनों तरफ़ रत्नमय दो गुलदस्ते हैं। मैं उनकी कान्ति और सुन्दरता नहीं बयान कर सकता। उसे बनाना तैमूर ने शुरू किया था और शाहेजहाँ ने ख़तम किया। उसको बनवाने में एक करोड़ ७० लाख रुपया ख़र्च हुआ है।"

फ़ारस में जाकर तख़्ते-ताऊस की सूरत कुछ बदल गई है; परन्तु उसकी विलक्षणता वैसी ही बनी है। इस समय योरप के जौहरी उसकी क़ीमत ४ करोड़ के क़रीब कूतते हैं !!!

इस अपार सम्पत्ति को छोड़ कर शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन परलोक को प्रस्थान कर गये। अब उसके मालिक उनके बेटे, मुहम्मदअली मिरज़ा, हुए हैं। [वे भी अब इस लोक में नहीं। अब तो फ़ारस में प्रजासत्ताक राज्य है। [फरबरी १९०७]

हबशीराज मैन्यलिक

लाल समुद्र से मिला हुआ, उसके पश्चिम और मिश्र के दक्षिण, एक स्वतन्त्र देश है। उसका नाम है अबीसीनिया। अगर ज़रा और शुद्ध करके लिखें तो उसे हबसीनिया कहना चाहिए। अरबी शब्द हबश से हबसीनिया बना है। हबशी भी उसीसे है। यह सभी जानते हैं कि हबश के रहनेवाले हबशी कहलाते हैं। अबीसीनिया बहुत प्राचीन राज्य है। उसका पुराना नाम यथिओपिया है। उसका क्षेत्रफल कोई २,००,००० वर्गमील और आबादी कोई ४०,००,००० है। हबश एक पहाड़ी देश है। उसमें कई ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। नदियाँ भी अनेक हैं। उसे सम-शीतोष्ण देश कहना चाहिए। वहाँ अफरीका के और और भागों की सी गरमी नहीं होती और न जाड़ा ही बहुत पड़ता है। वहाँ प्रायः सब प्रकार के

वनस्पति होते हैं। खेती भी ख़ूब होती है। कहवा बेशुमार पैदा होता है, गन्ना, अङ्गूर, अनार, नारङ्गी, नींबू, खजूर आदि की भी कमी नहीं है। हाथी और गैंड़े अनन्त हैं। वहाँ के गैंड़े के दो सींग होते हैं, एक नहीं। नदियों में मगर, घड़ियाल और जल तुरङ्ग भरे पड़े हैं। शेर और चीते भी हज़ारों हैं। शहद वहाँ इतना पैदा होता है कि वह हबशियों का सबसे बड़ा खाद्य है। हबश के हबशी क्रिश्चियन हैं; परन्तु विशुद्ध क्रिश्चियन धर्म्म में ऐसे अनेक ढोंग भर गये हैं जिनका क्रिश्चियन धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं। ख़ास ख़ास मौक़े पर ये लोग हाल के मारे गये पशुओं का गरम-गरम मांस कच्चा ही खा जाते हैं। पारकिन्स और ब्रूस नाम के दो अँगरेज़ इस बात की गवाही देते हैं।

हबश ख़ूब पुराना देश है। इसका पता नहीं चलता कि कब से वहाँ बादशाहत क़ायम है। वहाँ के वर्तमान राजा अपने को बादशाह नहीं कहते, किन्तु शाहंशाह (राजराजेश्वर) कहते हैं। प्राचीन काल में हबश और मिश्र की राजसत्ता एक ही पुरुष के हाथ में रहती थी; इसीलिए और हबशियों की अपेक्षा वहाँ के हबशी सुधर गये हैं। हबश में तीन प्रधान सूबे हैं--टाइगरी अमहरा और शोवा। १८६३ ईसवी में हबश के शाहंशाह थिओडर ने महारानी विक्टोरिया को एक पत्र भेजा; परन्तु उसका उत्तर न आया। इस पर आप बेहद नाराज़ हुए। अङ्गरेज़ी कान्सल को आपने क़ैद कर लिया। अतएव अँगरेज़ महाराज को हबश पर चढ़ाई करनी पड़ी। सर हावर्ट नेपियर सेनापति हुए। ४०० मील पहाड़ी रास्ता तै करके ३२,००० सेनासहित आप हबश में दाख़िल हुए, तब शाहंशाह को अपनी शाहंशाही का घमण्ड कम करना पड़ा। आपने ३००

भेड़ियाँ और १००० गायें देकर सुलह करनी चाही। यह बात अगरेज़ी सेनापति ने स्वीकार भी कर ली; परन्तु यह सन्धि-स्वीकार-वार्त्ता हबशराज की समक्ष में ठीक ठीक न आई। इसलिए आपने आत्महत्या कर ली। अँगरेज़ी सेना हबश का विध्वंस करके और क़ैदियों को छुड़ा कर वापस आई। परन्तु उस देश पर दखल न कर लेने की उसने उदारता दिखाई। इस भूल के लिए कोई-कोई धुरन्धर राजनितिज्ञ अँगरेज़-राज को अपराधी ठहराते हैं।

अबीसीनिया के वर्त्तमान हबशराज १८४३ ईसवी में पैदा हुए थे और १८८९ में आप शाहंशाही तख़्त पर बैठे। शुमालियों के देश का भी कुछ भाग आप ही के अधीन है। उसमें से थोड़ा सा देश आपने, १८८८ ईसवी में अँगरेज़ों को देकर उनसे दृढ़ मित्रता कर ली है। पहले आपकी राजधानी आदिस अबाबा में थी; परन्तु मैन्यलिक महाराज को वह नगर पसन्द नहीं आया। इसलिए आपने अब आदिस ऐलन को अपना राजस्थान बनाया है।

जिन लोगों ने मैन्यलिक महाराज को देखा और उनसे बातचीत की है वे उन्हें हबशियों के समान जङ्गली नहीं बतलाते। मैन्यलिक ख़ूब मोटे-ताज़े हैं; मज़बूत भी हैं; रङ्ग वही आबनूस जैसा है। बातचीत आपकी बड़ी प्यारी होती है; हरे और पीले रङ्ग के रेशमी कपड़े आप अधिक पसन्द करते हैं। आप बड़े न्यायी हैं। अपराधियों को कभी-कभी आप बड़ी सख़्त सज़ा देते हैं। परन्तु विदेशियों के साथ आपका बर्त्ताव बहुत नरम है। उन पर आप हमेशा मिहरबान रहते हैं। सूडान में अँगरेज़ों की प्रभुता और ट्राँसवाल के युद्ध में उनकी भारी हानि का हाल सुन कर, एक समय, मैन्यलिक बहुत

घबरा उठे थे। उनको यह भय हुआ था कि कहीं, एक दिन उनके पुरातन हबश-सिंहासन के ऊपर उनका भी आसन न हिलने लगे; परन्तु उनका यह भय अब दूर होगया है। उनको यह मालूम होगया है कि अगरेज़-राज उनके सर्वथा शुभ-चिन्तक हैं

विलक्षण वीरता दिखाने वालों को जैसे "विक्टोरियाक्रास" नामक पदक दिया जाता है वैसे ही मैन्यलिक महाराज अपने परम पराक्रमी और बहादुर योद्धाओं को शेर की खाल देते हैं। यह सबसे बड़ी खिलत है; इसे वे अपने ही हाथ से अता फरमाते हैं। मैन्यलिक का सेना-समूह ऐसा वैसा नहीं—वीर है, निडर है, श्रम-सहिष्णु है। तीन दिन तक बिना खाये-पिये ये लोग मार-काट करते चले जाते हैं। ज़रा भी नहीं थकते; उनको लड़कपन से शिक्षा ही ऐसी दी जाती है। मैन्यलिक स्वयं महावीर हैं। एक बार इटली वालों से आपकी खटक गई। दोनों ओर की सेना भिड़ पड़ी। इस युद्ध में मैन्यलिक, हाथ में तीव्र तलवार लेकर, शत्रुओं पर ऐसे टूटे जैसे शेर हिरनों के झुण्ड पर टूटता है। एक पल में आपने कितने ही इटेलियनों को धराशायी कर दिया। अन्त में आप ही विजयी हुए। आप अपनी सेना को कभी कभी स्वयं शस्त्र चलाना, निशाना लगाना और क़वायद-परेड करना सिखलाते हैं।

मैन्यलिक का चरित्र अद्भुत है। आपकी आज्ञा है कि आप के वीर योद्धा शेरों के साथ युद्ध करें और युद्ध के समय एक भाला साथ रक्खें। ऐसा ही होता भी है, और नर-राज के योद्धाओं के हाथ से बहुधा मृगराज ही को अपने प्राण बचाने पड़ते हैं। राजेश्वर का छत्र धारण करने पर मैन्यलिक ने

तीन शेर अपनी राजधानी में बहुत दिनों तक खुले छोड़ रखे थे। जो विदेशी वहाँ जाते थे वे बेचारे उनके कारण बड़ी ही विपदा में पड़ते थे। एक बार एक साहब ने पूछा कि ये शेर क्या कभी किसी पर चोट करके उसे मारते नहीं? इस प्रश्न को सुन कर मैन्यलिक महाराज ने बेपरवाही से उत्तर दिया— "हाँ, कभी-कभी मार भी डालते हैं, परन्तु पीछे से हमेशा हमीं लोग उन्हें मार लेते हैं।" एक बार हबशराज ने एक हाथी पाला था। वह भी खुला रहता था और यथेच्छाचारी था। जहाँ जी आता था वहाँ वह घूमा करता था; भोजन भी वह मनमाना करता था। एक दिन एक साहब के बँगले पर वह पधारा। साहब बहादुर मैन्यलिक महाराज की राजधानी देखने और उनसे मिलने गये थे। शाम को साहब का मेज़ लगाया गया था और उस पर खाने के पदार्थ चुने गये थे। इसी समय गजेन्द्रदेव वहाँ जा गरजे। उन्हें देखते ही साहब बहादुर के बावर्ची को गश आ गया। उसे ज़मीन पर सुलाकर गजराज भीतर घुसे। वहाँ जो कुछ मेज़ पर था एक मिनट में अपनी शुण्डादण्ड से उदरस्थ कर लिया। परन्तु वहाँ से निकलने में आपने जल्दी की। इसलिए बँगले का दरवाज़ा टूट कर आपके सिर पर रह गया। वैसे ही आप, सिर पर ऊँची टोपी सी लगाये, बाहर निकल आये। जब मैन्यलिक महाराज ने यह समाचार सुना तब आप इतना हँसे कि आँखों से आँसू निकलने लगे। कुछ दिनों में आपने इस गुण्डे गज को फ्रांस के सभापति को उपहार में दे डाला। इस समय वह पेरिस की हवा खा रहा है।

अपने को सभ्य माननेवाले लोग मैन्यलिक को चाहे असभ्य भले ही कहें; परन्तु जिन बातों को हम लोग अत्यन्त

निर्दयता से भरी हुई देखते हैं वे मैन्यलिक और उनकी प्रजा को न्यायसङ्गत और तुच्छ जान पड़ती हैं। हबस में चोरों और बदमाशों का एक हाथ या एक पैर काट दिया जाता है; परन्तु वे चूँ तक नहीं करते; चुपचाप और बड़े साहस से इस कठोर दण्ड को सह लेते हैं। यहाँ तक कि घावों पर उबलता हुआ तेल जब डाला जाता है तब उनके मुँह से आह नहीं निकलती। परन्तु यह हरगिज़ न समझिए कि मैन्यलिक महाराज निर्दयी हैं। उनके विशाल हृदय में दया का दरिया भी बहा करता है। इसका एक उदाहरण सुनिए। इटली वालों ने जब आप से शत्रुता की तब उनका एक दल मक्पलें नाम के क़िले में था। मैन्यलिक के सेनापति ने १५,००० सेना लेकर उनको घेर लिया। वे लोग इस घेरे में बहुत दिन पड़े रहे। जब अन्त में बिना जल वे मरने लगे तब उन्होंने अपने ३०० आदमी मैन्यलिक के सेना-नायक के पास भेजे। वह उनसे अच्छी तरह पेश आया और खिला-पिलाकर उनको उनके ईप्सित स्थान को उसने भेज दिया। यह देख कर इटली वालों ने सन्धि की प्रार्थना की। वे क़िले से बाहर आये। मैन्यलिक स्वयं उनसे मिले। उनसे आपने कहा—"तुमने न कभी मुझ पर मिहरबानी की, न मेरे आदमियों पर। तुमने अपना वचन भी भङ्ग किया और शत्रुता करके शस्त्र भी उठाया। तथापि मैं नहीं चाहता कि दुनियाँ यह कहे कि क्रिश्चियन लोग यहाँ कुत्ते की मौत मरे। इससे अब तुम चुपचाप यहाँ से चले जाओ।" इस प्रकार के दया-दान के बोझ से सिर झुकाये हुए वे लोग वहाँ से रवाना हुए। सुनते हैं, सवारी के लिए उनको ख़च्चर तक दिये गये थे।

राजधानी में मैन्यलिक ने एक ऊँचा मीनार बनवाया है। उस पर आप कभी-कभी दूरबीन लगाकर शहर का दृश्य देखा करते हैं; यदि कहीं अन्याय होता हुआ आप देखते हैं तो तुरन्त अन्यायी पकड़ कर आपके सम्मुख लाया जाता है। वहाँ पर तत्काल ही उसको दण्ड मिलता है। आपके अधीन कई छोटे-छोटे राजा हैं। यदि वे कोई अपराध करते हैं तो हवशी-राज उनसे वैसा ही बर्ताव करते हैं जैसे कड़े दिल वाला बाप कभी-कभी अपने बेटे के साथ करता है। मैन्यलिक उसकी ख़बर बेंत से लेते हैं। आप में चुस्ती ख़ूब है। आप अपने महल के आसपास ख़ूब देखभाल रखते हैं; शहर में भी घूमते हैं; और राज्य में भी दौरा करते हैं।

मैन्यलिक महाराज के पहले भी आपके नाम के एक हवशी राजेश्वर हो गये हैं। इसलिए आप "दूसरे मैन्यलिक" कहलाते हैं। आपकी महारानी का नाम है टैटू। उनकी उम्र, इस समय कोई ५० वर्ष की होगी। उनका पहला विवाह हबश राज थिओडर के एक सेनापति से हुआ था। उसके मरने पर आपने दो बार और भी विवाह किया। जब आप तीसरी दफ़ा विधवा हुईं तब मन में कुछ विराग सा आगया। इसलिए आप एक धर्म्म-मन्दिर में धर्म्माधिकारियों के साथ रहने चलीं गईं। परन्तु वहाँ आपका जी नहीं लगा। इसलिए थोड़े ही दिनों में आप वहाँ से निकल भागीं। १८८३ ईसवी में आपने मैन्यलिक महाराज को अपना पति बनाया। यह आपका पाँचवाँ विवाह है।

[दिसम्बर १९०८

परलोकवासी मिकाडो मुत्सू हीटो

जिस नन्हे से जापान ने हाल ही में संसार की महाशक्ति रूस को रणक्षेत्र में पछाड़ा था, जिसके बल और वैभव, उन्नति और पराक्रम का इतने थोड़े काल में विकास होते देख संसार के बड़े-बड़े उन्नति-शील देशों तक को आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी थी और जिसने अपने बल द्वारा संसार की महान् से महान जातियों की पंक्ति में खड़े होने का स्वत्व प्राप्त करके पूर्व के नीचे झुके हुए सिर को ऊपर उठाया था, उसे इस उन्नतावस्था को पहुँचाने के सबसे बड़े सूत्रधार, उसके सम्राट् मुत्सू हीटो, का देहान्त २९ जूलाई सन १९१२ को हुआ था।

मुत्सू हीटो का जन्म तीसरी नवम्बर सन् १८५२ ईसवी को हुआ था। जापान का राज्यवंश बहुत पुराना है। जापान के प्रथम सम्राट जिम्मू टैनो ने सन् ईसवी के १६६७ वर्ष पूर्व से राज्य करना आरम्भ किया था। परलोकवासी सम्राट् मुत्सू हीटो जिम्मो टैनों की १२१ वीं पीढ़ी में थे।※

मुत्सू-हीटो की शिक्षा पूर्वी देशों के राजकुमारों की तरह लाड़-प्यार से न हुई थी। उनके पिता सम्राट् ओसा हीटो काल-चक्र की गति को अच्छी तरह समझ चुके थे। वे जानते थे कि अधिक दिनों तक कूप-मंडूक बने रहने से जापान का कल्याण न हो सकेगा। इसलिए उन्होंने मुत्सू-हीटो को आधुनिक ढँग पर शिक्षा दी। उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाती जिसमें वे नरम गद्दे का सहारा ढूँढ़नेवाले कोमलाङ्ग राजकुमार ही न रह जायँ। घोड़े की सवारी, व्यायाम और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में वे थोड़े ही काल में सिद्ध-हस्त होगये। नियमानुसार कार्य्य करने की उनकी आदत डाली गई। वे सदा आज्ञा-पालन करते। न करने पर उन्हें साधारण बालक की तरह दंड मिलता। लड़कपन ही से वे सहिष्णु थे। वे बहुत कम खेलते कूदते थे; पढ़ते बहुत थे। प्रतिदिन कुछ कविता भी रचा करते थे। इन कामों से जो समय बचता उसे वे नाना प्रकार के व्यायामों खर्च में करते। बड़े होने पर उन्हें राजनीति

※ जापान के सम्राट मिकाडो (अर्थात् आली जनाब or Honourable Gateway कहलाते हैं। परन्तु इस नाम का व्यवहार जापान में बहुत कम किया जाता है। वहाँ सम्राट को "टेनों" और टेनशी" कहते हैं। मुत्सू हीटो "मीजी" (अर्थात् प्रकाश-पूर्ण शांति के नाम से जापान में प्रसिद्ध हैं

की भी शिक्षा मिली। विदेशों का इतिहास और वहाँ की राज्य-प्रणालियों का वृत्तान्त उन्हें अच्छी तरह पढ़ाया गया।

१८६७ में, अपने पिता के मरने पर, मुत्सू-हीटो राज-सिंहासन पर आसीन हुए। उस समय जापान की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। जापान में शोगन नाम का एक पद था। जापान के सम्राट् केवल नाममात्र को सम्राट् थे। वे इतने पवित्र और मनुष्य-कोटि से इतने उच्च समझे जाते थे कि प्रजा को उनके दर्शन तक दुर्लभ थे। अतएव शोगन लोग ही उनके नाम से जापान पर राज्य करते और विदेशी राज्यों से संधि आदि करते थे। १८५४ में, तत्कालीन शोगन ने, जापान के कुछ बन्दरगाहों को विदेशी वाणिज्य और विदेशियों के निवास के लिए खोल दिया। इस पर पुराने विचार के लोग बड़े नाराज़ हुए। उनकी नाराज़ी बढ़ती ही गई। वे शोगन-पद तक को उड़ा देने के लिए तैयार होगये। नये सम्राट् ने भी उनका साथ दिया। शोगन का पद तोड़ दिया गया, परन्तु सहज ही में नहीं। बड़े-बड़े उत्पात हुए। वे सब बल-पूर्वक शान्त किये गये। लोगों ने सोचा था कि शोगन-पद के टूटते ही विदेशियों का आना जाना जापान में बन्द हो जायगा और फिर वही पुराना शान्तिमय और आनन्ददायक समय आ जायगा जब मनमानी करना ही बलवानों का, और लातें तथा बातें सहना ही निर्बलों का काम था। परन्तु उनकी आशा पूर्ण न हुई। शोगन पद के टूटते ही नवीन सम्राट् ने उस दल का पक्ष लिया जो विदेशियों को अपने देश में आने देने और जापानी जाति में नाना प्रकार के सुधार किये जाने का हामी था। धीरे धीरे सम्राट् के विचार कार्य्य-रूप में परिणत होने लगे। जिस सम्राट् का दर्शन उसकी प्रजा तक को दुर्लभ था उसीने १८६८

के मार्च में विदेशी राजदूतों से भेंट की। लोगों ने उनके इस काम पर बड़ी आपत्ति उठाई और कितने ही जापानियों ने गलियों और बाज़ारों में फिरनेवाले विदेशियों के ऊपर आक्रमण भी किया; परन्तु इन बातों से वे तनिक भी भयभीत न हुए। सम्राट् अपनी राजधानी को क्योटो से इडो (वर्तमान टोकियो) नगर में उठा लाये। उन्होंने विदेशियों पर आक्रमण करनेवालों को उचित दण्ड दिया और विदेशियों की जो क्षति हुई थी उसे राज-कोष से पूर्ण कर दिया।

देश में कौन-कौन से सुधार किये जायँ, इस विषय पर विचार करने के लिए १८६८ में मुत्सू हीटो ने देश के गण्य-मान्य पुरुषों की एक सभा का सङ्गठन किया। इस सभा के अधिकारी ज़मीं-दार सदस्यों ने जिस प्रकार की देशभक्ति उस समय प्रकट की उस प्रकार की शायद ही संसार के किसी भी देश के ज़मींदारों ने कभी प्रकट की हो। उन्होंने एक संयुक्त प्रार्थना-पत्र सम्राट् के सामने पेश किया। उसमें उन्होंने लिखा—"हम और हमारे पूर्वजों ने चिरकाल तक इन ज़मींदारियों की आमदनी से सुख भोग किया है। इनमें निवास करनेवालों के तो हम विधाता ही हैं; परन्तु देश और जाति के सुधार के लिए और इसलिए कि हमारा देश संसार के उन्नत देशों की श्रेणी में गिना जाय, हमारी, जाति संसार की उच्च जातियों की बराबरी कर सके हम इन ज़मींदारियों से, जिन पर आज तक हमें स्याह और सफ़ेद तक करने का अधिकार प्राप्त था, जिनकी आमदनी से हम शारी-रिक आनन्द लूटते थे और जिनके निवासियों को हम ग़ुलामी की रस्सी के अमानुषिक बन्धनों से बाँधे हुए अपनी इच्छा के अनुसार नाच नचाते थे, अपना हाथ उठाते हैं और अपने सब सत्वों को त्यागते हैं। वे ज़मींदारियाँ अब आपके चरणों में

अर्पित हैं। उनका जो चाहिए सो कीजिए। इतना ही नहीं, जननी-जन्म-भूमि के लिए यदि हमारे शरीर की आवश्यकता हो तो वे भी हाज़िर हैं।"

ज़मीदारों के इस आत्मोत्सर्ग से सम्राट् की शक्ति बढ़ गई और निम्न-श्रेणियों को पराधीनता की शृङ्खला में बाँधे रखने वाली ज़मीदारी की कुत्सित प्रथा का दौर-दौरा जापान से उठ गया।

अब सुधार शुरू हुए। अत्याचारी दण्डों को प्रथा बन्द हुई। नये सिरे से, फ्रांस के क़ानून के आधार पर, जापानी क़ानून की रचना हुई। १८८२ में, जापान की पहली रेल बनी। पाश्चात्य सन् और तारीख़ का व्यवहार होने लगा। पाठ-शालाओं में अँगरेज़ी की शिक्षा भी आरम्भ हो गई। दल के दल जापानी युवक शिल्प-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका और योरप पहुँचे। बड़े आदमी भी घर में न बैठे रहे। विदेशों में जा-जाकर उन्होंने भी देश के लिए अनुभव प्राप्त किया। विद्वान् और व्यापारी भी पीछे न रहे। वे भी पाश्चात्य देशों की शिक्षा-प्रणाली और व्यापारी ढँग देखते फिरे। राष्ट्र ने भी बल-वृद्धि की चेष्टा की। अँगरेज़ों को नौकर रख-रखकर उसने अपनी नौशक्ति को बढ़ाया और जर्मन सैनिकों द्वारा अपनी स्थल-सेना का सुधार किया। १८८९ में सम्राट् ने प्रजा को पार्लियामेंट देने का वचन दिया और १८९० के नवम्बर में पहली जातीय महासभा (पार्लियामेंट) की बैठक हुई।

जापान में महान् परिवर्तन हो गया। उसका रूप ही बदल गया। इतने अल्प काल में इस प्रकार के परिवर्त्तन संसार में

थोड़े ही हुए होंगे। ये परिवर्त्तन हो गये और मुत्सू हीटो तथा उनकी प्रजा की बुद्धिमत्ता के कारण इतने अल्पकाल में हो गये; परन्तु निर्विघ्न नहीं हुए। १८७६ से लेकर १८८४ तक—८ वर्ष तक—जापान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, जगह-जगह, सुधारों के विरुद्ध कई छोटे-बड़े विप्लव हुए। इधर घर की इस अग्नि को शान्त करने में मुत्सू हीटो रत थे, इधर उन्हें अपने घर से बाहर चीन ऐसी बड़ी शक्ति से तलवार नापनी पड़ी। १८७४ में फारमोसा द्वीप के कुछ नौकारोही डाकुओं ने कई जापानी जहाज़ों को लूट लिया। उस समय फारमोसा चीन क अधीन था। शिकायत करने पर चीन ने डाकुओं को सज़ा देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब मुत्सू हीटो को लाचार होकर चीन के विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करना पड़ा। जापानी नौसेना ने फारमोसा पर अधिकार करके डाकुओं को दण्ड दिया और द्वीप को उस समय तक न छोड़ा जब तक चीन ने उनकी क्षति की पूर्ति न कर दी।

इन घरेलू और बाहरी झगड़ों को निपटा कर मुत्सू हीटो ने ज़ापान को अन्य स्वतन्त्र देशों के बराबर समझे जाने का दावा संसार के सामने पेश किया। पहले तो किसी ने इस दावे की ओर ध्यान न दिया; परन्तु १८९४ में अपने इस दावे को ज़ोर से पेश करने पर मुत्सू-हीटो को सफलता प्राप्त हुई। इङ्गलैण्ड ने जापान से समानता-सूचक सन्धि कर ली। अन्य देश भी आगे बढे, और अन्त में, १९०१ तक, अन्य स्वतन्त्र शक्तियों ने भी जापान के साथ मैत्री स्थापन की।

१८९४ में जापान को फिर चीन का मुक़ाबिला करने के लिए रणक्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ा। इस बार पहले की जैसी लड़ाई

न थी। चीन ने पूरी-पूरी तैयारी कर ली थी। पर अन्त में चीन को हार जाना ही पड़ा। जापानी योद्धाओं ने अपनी वीरता का सिक्का संसार में जमा दिया। इस युद्ध में मुत्सू-हीटो ने अपने सेना-नायकों को बहुत उत्साहित किया।

१९०४ में जापान को फिर अपनी वीरता प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ। रूस से उसकी खटपट होगई। एक वर्ष तक जिस ज़ोर के साथ यह युद्ध होता रहा और जापानियों ने जिस प्रकार की कुर्बानियाँ करके अपनी देशभक्ति और वीरता का परिचय संसार को दिया, वह समाचारपत्रों के पाठक भूले न होंगे। संसार उनकी वीरता और उनके सम्राट् मुत्सू-हीटो और अन्य राज्य पुरुषों की बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता का लोहा मान गया। उनके बल के सामने संसार की महाशक्ति रूस को अन्त में नीचा देखना पड़ा और तब्हीं से जापान की गणना अब संसार की महती शक्तियों में होने लगी।

अज्ञात जापान अवनति के गढ़े से निकाला जाकर उन्नति और प्रसिद्धि के शिखर पर चढ़ा दिया गया। गला घोंटने और शरीर को छिन्न-भिन्न करनेवाली ज़मींदारी-प्रथा से उसे छुटकारा मिला। संसार की अग्रगण्य जातियाँ और देश उसे अपनी बराबरी का समझने लगे। इतना ही नहीं, उसने अपनी उन्नति से पश्चिम की भूमि-लोलुप महाशक्तियों को इस बात की चेतावनी सी देदी कि अब भविष्यत में वे एशिया महाद्वीप में फूँक फूँककर क़दम रक्खें ; ये सब महत्त्वपूर्ण बातें थीं। पर ये बहुत ही अल्पकाल में हो गईं। इनका करना किसी एक आदमी का काम न था और न ये एक दिन में हो ही सकती थीं। वर्षों पूर्व से भीतर ही भीतर नाना प्रकार की शक्तियाँ

जापानी जाति को ठोंक-पीटकर इस परिवर्त्तन के लिए तैयार करती रही होंगी। परन्तु जापान के सम्राट् मुत्सू हीटो ने इस उन्नति-चक्र को घुमाने का जो यत्न किया वह कम महत्त्व का नहीं कहा जा सकता। पराधीनता के अन्धकार में ठोकर खाती फिरनेवाली जाति का पुनरुद्धार करना बड़ा भारी काम अवश्य है, परन्तु अवनति के गढ़े में गिरी हुई जाति को सचेत करके उन्नति के शिखर पर बिठा देना और संसार से उसकी प्रतिष्ठा करा लेना भी कम महत्त्व का काम नहीं। मुत्सू हीटो ने दूसरे प्रकार का काम कर दिखाया। यदि नेपोलियन बीस लाख से अधिक मनुष्यों का रक्तपात करा कर फ्रांस से प्रजा:सत्ताक राज्य का बलिदान अपनी उच्च अभिलाषाओं की पूर्त्ति के निमित्त देकर और अन्त में हार जाने पर—फ्रांस को योरप की शक्तियों के सामने दयाप्रार्थी होते हुए छोड़कर महान् पुरुष कहा जा सकता है, तो संसार में शायद ही कोई ऐसा हृदय-शून्य मनुष्य हो जिसे मुत्सू हीटो को—जिन्होंने अपने देश जापान ही को इस उच्च अवस्था को नहीं पहुँचाया, किन्तु पाश्चात्य शक्तियों के बढ़े हुए हाथों से पास के अन्य पूर्वी देशों को भी अंशतः निर्भय करने का पुण्य कमाया—महान् पुरुष कहने में सङ्कोच हो।

जापानी जाति मुत्सू हीटो को जी-जान से चाहती थी। समय-समय पर इस बात के कितने ही उदाहरण मिल चुके हैं। परन्तु उस समय की राजभक्ति का दृश्य जब मुत्सू-हीटो मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे और चिकित्सकों ने जवाब दे दिया था, बड़ा ही कारुणिक था। राजमहल के चारों ओर हज़ारों जापानी उदास घूमते रहते थे और सम्राट् के नीरोग होने के लिए झुक-झुककर ईश्वर से प्रार्थना करते थे। एक आदमी

ने तो सम्राट के आरोग्य लाभ के लिए बलिदान स्वरूप आत्म-हत्या तक कर डाली। देश भर में नाच और तमाशे बन्द हो गये ! मन्दिरों में पूजा-पाठ और प्रार्थनायें होने लगीं। महारानी दिन रात सम्राट को सेवा-शुश्रूषा किया करतीं। युवराज योशीहीटो बीमार थे। पिता की नाजुक अवस्था का समाचार सुन कर वे बेहोश हो गये, परन्तु अच्छी चिकित्सा के प्रभाव से शीघ्र ही चंगे हो गए। वे भी पिता की रोगशय्या के पास सदा मौजूद रहते। अन्त में स्त्री, पुत्र, और प्रजा, किसी की कोई सेवा काम न आई। सब को रोते छोड़ कर सम्राट् उस लोक को चले गए जहाँ एक दिन हम सब को जाना है।

मुत्सू हीटो के बाद उनके युवराज योशीहीटो जापान की गद्दी पर विराजमान हुए। आपने घोषणा-पूर्वक प्रण किया कि मैं उसी तरह शासन करूँगा जिस तरह कि मेरे पिता करते थे। एवमस्तु।

[सितम्बर १९१२

———

१४—वाजिदअलीशाह
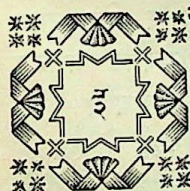
इस लेख में हम एक ऐसे व्यसनी और कर्तव्य-पराङ्-मुख बादशाह का संक्षिप्त चरित्र लिखने जा रहे हैं जिसने अपने दुर्गुणों के कारण अपने पूर्वजों के उपार्जित राज्य को हमेशा के लिए खो दिया।

वाजिदअलीशाह का जन्म २२ जुलाई १८२२ को हुआ था। उनके पिता अमजदअलीशाह की मृत्यु होने पर, १३ फ़रवरी १८४७ को, उन्हें लखनऊ का तख़्त मिला। उस समय उनकी उम्र २५ वर्ष की थी। वाजिदअलीशाह को राजोचित शिक्षा नहीं मिली। उनका लालन-पालन विशेष करके स्त्रियों ही के बीच में हुआ। इसलिए उन्हें महलों के भीतर स्त्रियों, पुरुषत्व-हीन पुरुषों, वेश्याओं और गाने-बजानेवालों के साथ रहने ही में अधिक आनन्द मिलता था। जिस समय वाजिदअली को

गद्दी मिली, कप्तान शेक्शपियर लखनऊ के रेज़िडेन्ट थे। उन्होंने वाजिदअली की गुणावली का कीर्तन अच्छी तरह करके गव-र्नर जनरल को भेजा। उनके बाद कर्नल रिचमण्ड रेज़िडेंट हुए। उन्होंने भी अपनी रिपोर्ट में कप्तान शेक्सपियर के कथन का समर्थन किया और लिखा—"बादशाह की हालत अच्छी नहीं। वह दुर्व्यसनों में लिप्त है; उसे नीच आदमियों ही की सङ्गति अच्छी लगती है; उसे बहुत कम शिक्षा मिली है; वह समझता है सांसारिक सुखों का सबसे अधिक अनुभव करना ही मेरा परम कर्तव्य है। वह प्रजा के हानि-लाभ की कुछ भी परवा न करके अपने चाटुकार—.खुशामदी—आदमियों को बड़े-बड़े अधिकार देता है। उनकी योग्यता का वह ज़रा भी ख़याल नहीं करता।" कर्नल रिचमण्ड के बाद १८४९ ईसवी में, मेजर जनरल स्लीमन लखनऊ के रेज़िडेंट हुए। स्लीमन साहब न्यायप्रिय, योग्य, उदार, तजरिबेकार और हिन्दुस्तान के हितचिन्तक थे। अवध की दुर्व्यवस्था देखकर गवर्नर जनरल ने उनको यहाँ भेजा था। उन्होंने तीन महीने अवध में दौरा करके देश की दशा प्रत्यक्ष देखी और दिनचर्य्या के रूप में उन्होंने सब बातें लिख लीं। यह दिनचर्य्या दो जिल्दों में पीछे से प्रकाशित हुई। इसे पढ़कर अवध की दुर्दशा का मूर्तिमान रूप आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। हाकिमों और लुटेरों की निर्दयता, और प्रजा पर किये गये दारुण अत्याचारों, का वर्णन पढ़कर दुख, शोक, दया, करुणा और क्रोध आदि मनो-विकारों से चित्त विकल हो उठता है।

१८०१ ईसवी में अँगरेज़ और लखनऊ के बादशाह सआदत-अलीख़ाँ ने, परस्पर एक सन्धिपत्र लिखा। उसके अनुसार सआदतअली ने अवध का प्रायः आधा राज्य अँगरेज़ों को दे

डाला। उस दस्तावेज़ में बहुत सी शर्तें हुईं उनमें से एक शर्त यह भी थी कि बादशाह अपनी प्रजा पर न्यायपूर्वक राज्य करें—किसी पर अन्याय न होने पावे—और अँगरेज़ भीतरी और बाहरी दुश्मनों से अवध की रक्षा करें। १८३७ ईसवी में, मुहम्मदअली के समय में, यह सन्धिपत्र फिर से नया किया गया। इस दस्तावेज़ की कुछ शर्तें विलायत में बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स ने मंजूर न कीं। बादशाह से कई लाख रुपये और अधिक लेने की जो शर्त थी वह भी इन्हीं में से थी। पर और और शब शर्तें पूर्ववत् बनी रहीं। "तुम्हें अपनी प्रजा का अच्छी तरह पालना करना चाहिए"—यह शर्त वैसी ही रही। मुल्क बादशाह का, पर प्रजा-पालन की फ़िक्र अँगरेज़ों को! क्यों? हम हिन्दुस्तान के सार्वभौम राजा हैं, इसलिए किसी के राज्य में प्रजा पीड़न होने से हमारी बदनामी है!

जब कभी अँगरेज़ों को अवध में दुर्व्यवस्था देख पड़ी तभी उन्होंने यहाँ के बादशाहों को इस शर्त की याद दिलाई। एक दफ़े नहीं, कई दफ़े उन्हें इसकी याद दिलानी पड़ी। याद ही नहीं, समझाना-बुझाना और धमकाना तक पड़ा। परन्तु विशेष लाभ न हुआ। वाजिदअली के गद्दी पर बैठने पर, नवम्बर १८४७ ईसवी में, हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंङ्ग लखनऊ आये। उन्होंने वाजिदअली से कहा कि रेज़िडेन्ट की सलाह से आप काम कीजिए। आपको दो वर्ष की मुहलत दी जाती है। इतने समय में आपको अपनी राज्य-प्रणाली में सुधार करना चाहिए। वाजिदअलीशाह ने गवर्नर जनरल के इस उपदेश के उत्तर में "जो हुक्म" कहकर लाट साहब को किसी तरह टाला। उनके चले जाने के बाद, कुछ दिनों तक,

बादशाह ने अपने अधिकारियों को बुला कर दरबार में बैठना शुरू किया।

इस तरह महीने दो महीने यह दिखला कर कि मैं लाट साहब की आज्ञा के अनुसार काम करता हूँ वाजिदअलीशाह ने दरबार में आना बन्द कर दिया। अन्तःपुर से बाहर निकलने में उन्हें तक़लीफ़ होने लगी। वे अपने रङ्गमहल में अपनी अनेक नई-पुरानी बेगमों, और गाने-बजानेवालों तथा मसख़रों की सङ्गति में पूर्ववत् निमग्न हो गये। इसके सिवा उन्हें और किसी भी तरह चैन न आती थी। उनके शुभचिन्तकों और एक के बाद दूसरे रेज़िडेन्टों ने उन्हें बहुत समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। धीरे-धीरे वाजिदअलीशाह की विलासिता यहाँ तक बढ़ गई कि उन्होंने अपने अधिकारियों, शहर के अमीरों और राजघराने के आदमियों तक से मिलना और दरबार में आकर राज्य का कारोबार देखना बिलकुल ही बन्द कर दिया। रज़ीउद्दौला नामक एक नीच जाति का गायक था। उसने बादशाह को यहाँ तक अपने वश में कर लिया कि उसके सिवा और किसी को अपने पास भेंट के लिए आने की वाजिदअली ने सख़्त मनाई करदी! दुर्व्यसन-सेवी और दुःशील लोगों की सङ्गति से जो बुरे परिणाम होते हैं वे होने लगे और लखनऊ के अन्तिम "बादशाह सलामत" नीच से भी नीच और निन्द्य से भी निन्द्य दशा को जा पहुँचे!

अगस्त १८४९ में स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को एक पत्र लिखा। उसमें एक जगह आप लिखते हैं—

"राज्य का काम-काज देखने के लिए मैंने बादशाह को कई पत्र लिखे, पर उनका कुछ भी असर बादशाह पर न हुआ।

बादशाह अपना सारा वक्त गाने-बजानेवालों की सङ्गति में, या उन औरतों की सङ्गति में जो वे लोग लाते हैं, खोता है। उसके मनोरञ्जन का एक-मात्र साधन यही लोग हैं। रज़ीउद्दौला सब गवैयों का सरदार है। पूरे आठ घण्टे बादशाह उसके मकान पर रहता है। यह मनुष्य अभी कुछ दिन पहले चार रुपये महीने पर एक वेश्या के यहाँ तबलची था। ये गवैये बहुत ही नोच जाति के हैं—इनमें से कुछ डोम भी हैं। अब यही लोग मुल्क के मालिक बन गये हैं। बादशाह किसी से नहीं मिलता। वह राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातें नहीं जानता और जानने को परवा भी नहीं करता। प्रजा उससे घृणा करती है।

एक और जगह आप लिखते हैं—

"यदि बादशाह के साथी तबलची और हींजड़े चाहें तो बादशाह आज ही अपने वज़ीर को निकाल दे। और यदि कोई दूसरा आदमो वर्तमान वज़ीर से अधिक घूँस देने पर राज़ी हो तो वे उसे निकाल कर कल करें। बादशाह दरबार में नहीं आता और अपना काम नहीं करता। इस कारण सब कहीं लूट-मार मची हुई है। वज़ीर और दरबार के आउरदे ही नहीं लूट मचा रहे, रिश्वत का बाज़ार सभी कहीं गरम है। महा-राजा बालकृष्ण दीवान के पद पर है। वह सब से अधिक घूस-ख़ोर है। बादशाही रुपया जो ठेकेदारों के नाम वक़ाये में रहता है उसका बहुत सा हिस्सा वह खा जाता है और जो कुछ रह जाता है उसे वह छोड़ देता है। लखनऊ में एक भो शाही दफ़्तर ऐसा नहों है जहाँ रिश्वत न ली जाती हो।"

× × × ×

"हैदरी नाम का एक इतिहास है। वह गद्य में है। आज कल 'बादशाह सलामत' उसका अनुवाद पद्य में करने लगे हैं। इसलिए लखनऊ के जितने कवि, कुकवि और सुकवि हैं सब बादशाह को रात के ९ बजे से ३ तक तक घेरे रहते हैं। वज़ीर, स्त्रियाँ, गायक और दुश्चरित्र नपुंसकों को छोड़ कर यही लोग ऐसे हैं जिनकी पहुँच आज-कल बादशाह तक है। गत जनवरी में जब से मैं यहाँ आया हूँ तब से यही तमाशा हो रहा है।"

"बादशाह को यह डर लगा रहता है कि कहीं उसकी सबसे बड़ी बेगम उसे ज़हर न दे दे। वह उसे मार कर अपने बेटे को गद्दी पर बिठाना और अपने एक प्रेमपात्र को कानपुर से अपने पास बुला लेना चाहती है। बादशाह की दूसरी बेगम गवैयों के सरदार रजीउद्दौला से मैत्री रखती है। उसे ऐसा करने से रोकते बादशाह डरता है। वह समझता है कि कहीं वह भी न मुझे ज़हर देकर अपने मित्र के साथ रामपुर चली जाय"!

स्लीमन साहब ने एक ख़ानगी चिट्ठी इलियट साहब को लिखी थी। वह उनकी दिनचर्य्या में छपी है। उसमें आप कहते हैं कि मुझको यहाँ से निकालने के लिए १५ लाख रुपये ख़र्च किये जाने का विचार हो रहा है। लोग नहीं चाहते कि मैं किसी तरह के सुधार की कोशिश करूँ। इसलिए अनेक षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। मैंने सरकारी तौर पर जो चिट्ठी भेजी है उसमें लिखा है कि वज़ीर की सालाना नज़रों का टोटल औसत सात लाख रुपया है। पर अब वह बढ़ कर १२ लाख हो गया है। ११ सितम्बर १८५४ को, लखनऊ से बदली होने

के समय, जो पत्र स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को लिखा था उसमें एक जगह आप कहते हैं--

"फ़ारिस के शाह की तरफ़ से वाजिदअली के नाम कुछ बनावटी चिट्ठियाँ पकड़ी गई हैं। उनमें हिन्दुस्तान जीत कर आपस में बाँट लेने की बात है। मैंने बादशाह से इस विषय में चर्चा की; पर बादशाह ने कहा कि मैं इन चिट्ठियों की बात बिलकुल नहीं जानता। कुछ भी हो बादशाह का चित्त स्थिर नहीं; वह बहुत ही अव्यवस्थित हो रहा है। कुछ दिनों में बात यहाँ तक बिगड़ जानेवाली है कि फिर उसका बनना असम्भव हो जायगा। वज़ीर और उसके आउरदों ने बम्बई और कलकत्ते में अपने एजेंट रक्खे हैं। उनकी सहायता से वे सैकड़ों तरह के बहाने बतला कर बादशाह को लूट रहे हैं।"

अवध का गैज़ोटयर, अवध से सम्बन्ध रखनेवाले पार-लियामेंट के काग़ज़-पत्र, इरविन, लारेन्स और स्लीमन आदि के लेख और शबाबे लखनऊ नामक अवध के नव्वाब वज़ीरों के समय के इतिवृत्त से वाजिदअलीशाह के समय का बहुत कुछ हाल मिलता है। पर जहाँ देखो वहाँ उनके दुर्व्यसनों ही का ज़िक्र है। इन सब पुस्तकों और लेखों से यह साबित होता है कि बादशाह न कभी किसी की शिकायत सुनता था; न किसी की नालिश-फ़रियाद सुनता था और न किसी की रिपोर्ट ही को कभी आँख उठा कर पढ़ता था। वह सिर्फ़ अपनी विषयवासनाओं की सेवा में रत रहता था। उसे न अपने कर्तव्य की परवा थी और न अपने को वह किसी बात के लिए ज़िम्मेदार ही समझता था। गाने-बजानेवालों,

मसख़रों और स्त्रियों ही की सुहबत उसे पसन्द थी। वह अपने घर ही के काम-काज की देख भाल न कर सकता था; मुल्क के कारोबार देखने की उसे कहाँ फ़ुरसत थी ? कभी-कभी वह अपने वज़ीर, अलीनक़ीख़ाँ को अपने पास आने देता था। पर जब वज़ीर साहब बादशाह से मिलते थे तब इस तरह को बात-चीत करते थे जिससे यह साबित होता था कि जो कुछ बादशाह को करना चाहिए वह सब वह कर रहा था; और अधिक करने की उसे कोई ज़रूरत न थी। वह अपने भाई, चचा और शहर के रईसों और अमीरों से कभी न मिलता था। बादशाह की बनाई हुई कविता की तारीफ़ करने के लिए सिर्फ़ दो चार महाकवि उसके पास जाने पाते थे। जब कभी वह घोड़े या गाड़ी पर सवार होकर बाहर निकलता था तब यदि कोई साहस करके उसे कुछ लिख कर देना चाहता था तो वह पकड़ लिया जाता था। जिन लोगों पर सख़्ती होती थी; जिनकी रियासतें छिन जाती थीं; जिनके कुटुम्बी मार डाले जाते थे—वे कभी-कभी अर्ज़ियाँ लेकर, बादशाह के बाहर निकलने पर, रोते-चिल्लाते हुए उन्हें देने दौड़ते थे। पर वे लोग या तो क़ैद कर लिये जाते थे, या उन्हें और किसी तरह की सख़्त सज़ा दी जाती थी ! लिखा लोगों ने ऐसा ही है। झूठ सच को राम जाने। बादशाह के बाप और दादे इत्यादि दरबार में आते थे। शाही ख़ानदान के आदमियों और अमीर-उमरा लोगों से वे मिलते थे। अर्ज़ियाँ और रिपोर्ट वग़ैरह वे या तो स्वयं पढ़ते थे या दूसरों से पढ़ा कर उन्हें सुनते थे। इसके बाद वे हुक्म लिखाते थे और अपने सामने ही सब काग़ज़-पत्रों पर अपनी मुहर करते थे। तख़्त मिलने पर कुछ

दिनों तक वाजिदअलीशाह ने भी ऐसा ही क्रम जारी रक्खा। पर उन्होंने बहुत जल्द दरबार में आना बन्द कर दिया और मुहर वग़ैरह सब सामान अपने वज़ीर को दे दिया। धीरे-धीरे वज़ीर आज़म की भी हालत बादशाह ही की जैसी हो गई। लोगों की पहुँच उस तक भी मुश्किल से होने लगी। फल यह हुआ कि देश में अराजकता फैल गई और घूँसखोर और लुटेरों की बन आई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरों ने वाजिदअलीशाह को दो वर्ष की मुहलत दी थी। पर सुधार होना तो दूर रहा, राज्यप्रबन्ध में और भी अधिक अबतरी होती गई। एक साहब लिखते हैं कि बादशाह का सबसे बड़ा हौसला यह है कि "दुनिया भर में जितने आदमी बहुत ही अच्छा तबला बजाते हों, बहुत ही अच्छा नाचते हों; बहुत ही अच्छी कविता करते हों उनसे भी मेरा नम्बर बढ़ जाय। राज्य करने के वह बिलकुल योग्य नहीं। पर वह अपने मन में यह समझता है कि चाहे जो काम हो उसे और कोई आदमी उससे अच्छा नहीं कर सकता। इसी से वह राज़ी-.खुशी अपना तख़्त किसी दूसरे को नहीं देना चाहता।"

एक और साहब लिखते हैं—"वह राज्य करने की अपनी परम अयोग्यता के नये-नये उदाहरण हर रोज़ दिखाता है। अभी इसी मुहर्रम में, कई दफ़े, अपने गले में एक ताशा लटका कर वह गली-गली उसे पीटता फिरा। इससे उसके कुटुम्बियों ने अपनी बड़ी बेइज्ज़ती समझी। और लोगों को क्या? उन्होंने तो .खूब ही तमाशा देखा! दो-तीन वर्ष से बादशाह के कुटुम्ब-वालों को जो मासिक मिलता था वह नहीं मिला। इससे बहुतों

को अपने कपड़े-लत्ते तक बेच कर पेट पालना पड़ा।'*

कप्तान बर्ड लखनऊ के रेज़िडेंट के नायब थे। उन्होंने बादशाह से कई दफ़े कहा कि आप इन स्वार्थी, नीच और तुच्छ गाने-बजानेवालों को निकाल दीजिए; इनको अपने पास न आने दीजिए; इनके पास बैठने उठने से आप भी इन्हीं के स्वभाव के हो जायँगे; आपका सबसे बड़ा कृपापात्र रज़ाउद्दौला विश्वास के लायक़ नहीं—वह आपकी बेगम सरफ़राज़महल, के यहाँ आता-जाता है। पहले तो इस उपदेश का कुछ असर नहीं हुआ। पर जब ये लोग तरह-तरह के जाल फैलाने और फ़रेब करने लगे तब बादशाह ने इन्हें क़ैद करके, जून १८५० में, गङ्गापार भेज दिया। जो कुछ माल-मत्ता उनके पास था वह भी छीन लिया। पर वे लोग पहले ही लाखों रुपये अपने अपने घर भेज चुके थे। नवम्बर में वाजिदअलीशाह ने सरफ़राजमहल

* The king every day, manifests his utter unfitness to reign in some new shape, He, on several occasions, during the Moharram Ceremonies, which took place lately, went along the streets beating a drum tied round his neck, to the great scandal of his family and the amusement of his people, The members of his family have not been paid their stipends for from two or three years, and many of them have been reduced to the necessity of selling their clothes to purchase food, [Sleeman's journey through Oudh, vol 2, page 389]

से विवाह-बन्धन तोड़ दिया और उसे मक्के की हज के लिए भेज दिया यह स्त्री सदाचारिणी न थी। उसके विषय में लखनऊ के रेज़िडेंट के अँगरेज़ी लेख का कुछ अंश नीचे, पाद टीका में, यथावत् दिया जाता है।❀

रज़ीउद्दौला उर्फ़ ग़ुलामरज़ा, रामपुर का रहनेवाला था। उसके साथी जितने तबलची, सारङ्गीवाले और गवैये वग़ैरह थे सब उसी तरफ़ के थे। ग़ुलामरज़ा की एक बहन भी लखनऊ में थी। इन लोगों ने अजीब तरह के धोखे दे-देकर बादशाह से रुपया वसूल किया। इसी धोखेबाज़ी के कारण बादशाह ने उन्हें निकाला। एक आदमी का नाम था सादिक़अली। वह फ़क़ीर के वेश में मुफ़्तीगञ्ज (लखनऊ) में आकर रहने लगा उस समय वाजिदअलीशाह की तबीयत अच्छी न थी। आपका दिल धड़कता था। रज़ीउद्दौला ने बादशाह से कहा कि यहाँ एक परियों का राजा (आमिले-जिन्नत) आया है। आप उससे मिलिए। वह आपको ज़रूर अच्छा कर देगा। बादशाह कई दफ़े उससे मिला। अपने यहाँ नहीं, उसके घर पर। उसने बादशाह

❀ She had long been cohabiting with the Chief singer, Ghulam Raza, and was kuown to be a very profligate woman. She is said to have given his Majesty to nnderstand that she would not conset to remain in the palace with him without the privilege of choosing her own lovers, a privilege which she had freely enjoyed before she come into its, and could not possebly forego.

को बेतरह ठगा। एक कमरे में दो छतें लगाकर और दोनों छतों के बीच बैठकर उसने अद्भुत-अद्भुत तरह की बोलियाँ सुनाईं। परियों के मान-दान में बादशाह से उसने लाखों रुपये ऐंठे। रज़ीउद्दौला से बादशाह की बीमारी का सब हाल उसे मालूम ही हो गया था। इससे उसके रोग का कारण और उसकी सब व्यवस्था पूरी-पूरी कह सुनाई। एक अद्भुत लिपि में उसने बादशाह को कई बार पत्र भी भेजे; बादशाह को यह सुझाया गया कि वे पत्र सब जिन्नती भाषा में हैं, क्योंकि जिनों के शाहंशाह (शादिक़अली) और लिपि में पत्र नहीं लिखते। महीनों तक ये तमाशे होते रहे और वाजिदअलीशाह को बेवकूफ़ बना कर ये लोग उसे लूटते रहे। इसकी ख़बर कहीं उमराव या असरू बेगम को लग गई। उसने भण्डाफोड़ कर दिया। बादशाह ने शादिक़अली को पकड़ बुलाया। २ दिसम्बर १८४९ को जिनराज पकड़ आये। आकर आपने अपने सारे जाल का हाल साफ़-साफ़ कह सुनाया। उसने कहा कि सिर्फ़ रुपया कमाने के इरादे से मैंने यह सब किया है। इस फ़रेब में आपके कृपापात्र रज़ीउद्दौला और उसके साथी भी शामिल हैं। तब, रात को, बादशाह ने वज़ीर और रज़ीउद्दौला दोनों को बुला भेजा और सादिक़अली से कहा कि जिस तरह तुम अपने घर पर आमिले-जिन्नत बनते थे उसी तरह यहाँ भी बनो। एक कमरा इसके लिए तैयार किया गया। जब सब ठीक ठाक हो गया तब बादशाह उसके भीतर घुसा। घुसते ही एक ख़ौफ़नाक आवाज़ ऊपर से आई। पर छत में कहीं दराज न थी। ज़रा देर में "सलाम आलेकुम" सुनाई दिया और छतों के बीच परीराज प्रकट हो गये। उन्होंने दो एक आभूषण और प्रसाद वग़ैरह बादशाह को वहीं से बाँटा और बाँट कर फिर ग़ायब

होगये। तब बादशाह ने रजीउद्दौला की ख़ूब ख़बर ली और कहा कि तुम लोग पहले दर्जे के नमकहराम हो। इसी तरह तुम सब मुझे ठगते रहे हो। रजीउद्दौला और उसके साथी; सआदतअलीख़ाँ के रौज़े में रहते थे। वहाँ पहरा बिठा दिया गया और बिना तलाशी के किसी को आने-जाने की सख़्त मनाई हो गई। पर रजीउद्दौला की बहन इसके पहले ही वहाँ से निकल भागी थी। इस घटना के बाद भी ये गन्धर्वराज, रज़ीउद्दौला, वहाँ बहुत दिनों तक रहे। बादशाह उसे निकालना चाहता था, पर उसकी इस इच्छा में अनेक व्याघात पैदा होते थे। अन्त में रेज़िडेंट के बहुत ज़ोर लगाने पर वाजिदअलीशाह को उससे नजात मिली।

बादशाह की मूर्खता की कौन कौन सा बात कही जाय। कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको सुन कर बेहद घृणा होती है; पर आप उन्हीं में मग्न थे। उनके बिना आपको चैन ही न था। उन सबका लिखना यहाँ मुनासिब न होगा। हाँ, एक छोटी सी बात यहाँ पर लिखी जाती है। वाजिदअलीशाह की माँ के पास एक परिचारिका थी। उस पर लखनऊ के बादशाह सलामत लुब्ध हो गये। आपने उस लौंडी से शादी करना चाहा। माँ ने बहुत समझाया, पर उसकी दाल न गली। जब बादशाह की बेकरारी बहुत ही बढ़ गई तब एक माया रची गई। आपकी माँ ने कहा कि इस लड़की की गरदन के पीछे साँपिन का चिह्न है। मनुष्य तो क्या, इस निशानवाला घोड़ा तक कोई नहीं रखता। मैं डरती हूँ कि यदि आप इसे अपनी बेगम बनावेंगे तो कहीं आप और आपकी औलाद दोनों पर आफ़त न आ जाय। पर असल मतलब बेगम का यह था कि वह उस लड़की को देना न चाहती थी और न वह लड़की ही

बादशाह की बेगम बनना चाहती थी। माँ की बात सुन कर वाजिदअली ने कहा कि मेरे अनेक बेगमें हैं; सम्भव है, उनमें से भी बहुतों के साँपिन हों; और इसी सबब से मैं बीमार रहता होऊँ। बेगम ने कहा—"बेशक, हम लोगों का भी यही ख़याल है। पर आपके डर से हमने यह बात आपसे आज तक नहीं कही"। इस पर प्रधान हींजड़े बशीर को हुक्म हुआ कि तुम सब बेगमों की गरदनों की परीक्षा करो। परीक्षा का फल भयङ्कर हुआ। आठ बेगमों की गरदनों में यह सर्वनाशी निशान पाया गया। उनके नाम—निशात-महल, ख़ुरदेश-महल, सुलेमान महल, हजरत-महल, दारा बेगम, बड़ी बेगम, छोटी बेगम और हज़रत बेगम। फ़ौरन ही इनसे विवाह-बन्धन तोड़ दिया गया और हुक्म हुआ कि जो कुछ इनके पास हो लेकर ये महलों से चली जायँ! कुछ लोगों ने कहा कि मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू लोग सामुद्रिक शास्त्र अच्छा जानते हैं। इस पर हिन्दू पण्डित बुलाये गये। उन्होंने कहा कि गरम लोहे से साँपिन का सिर दाग देने से विपत्ति की सम्भावना दूर हो जायगी। पर बड़ी और छोटी बेगम को छोड़ कर और किसी ने अपना बदन जलाया जाना और विवाह-बन्धन तोड़ने के बाद रहना मञ्जूर न किया। अतः वे क्रोध में आकर फ़ौरन ही महलों से बाहर हो गईं।

सआदतअली के मरने पर लखनऊ के शाही ख़जाने में १४ करोड़ रुपया ख़र्च होने से बच रहा था। उसके बेटे गाज़ी-उद्दीन ने उसमें से ४ करोड़ ख़र्च कर दिया और मुल्क से जो वसूल हुआ वह भी ख़र्च कर दिया। उसके बाद उसके बेटे ने बचे हुए १० करोड़ में से ९ करोड़ ३० लाख उड़ाया। रहा ७० लाख। इसमें से महम्मदअली ने ३५ लाख ख़र्च किया।

अमजदअली ने बचे हुए ३५ लाख को बढ़ा कर ९२ लाख कर दिया। इसके सिवा कई लाख अशर्फ़ियाँ भी ख़ज़ाने में थीं और बहुत सा रुपया गवर्नमेंट के प्रामिसरी नोट्स के रूप में भी था। वह सब वाजिदअलीशाह को मिला। आप १८४७ ईसवी में तख़्त पर विराजे। १८५१ तक आपने सारी अशरफ़ियाँ गला डालीं। शायद बेगमों के लिए उनके ज़ेवर बन गये। प्रामिसरी नोट्स भी सब आपने उड़ा डाले, और रुपया जो ख़ज़ाने में था वह भी सब आपने ख़र्च कर डाला। आपका ख़र्च आमदनी की अपेक्षा कोई २० लाख अधिक था। पाँच वर्ष में ५५ लाख रुपया आप पर अपने नौकरों और शाही घराने के आदमियों का देना हो गया। उन लोगों को दो दो तीन तीन वर्ष की तनख़्वाह ही न दी जा सकी।

वाजिदअली के वज़ीरेआज़म का नाम था अलीनकी ख़ाँ! वज़ीर साहब ने वाजिदअली और वाजिदअली के राज्य को ख़ूब ही मटियामेट किया। वज़ीर के विषय में स्लीमन साहब की राय सुनिए—"वज़ीर विश्वासपात्र आदमी नहीं है। इतना अयोग्य आदमी मैंने कभी नहीं देखा। क़ायदे से काम-काज करना क्या चीज़ है, वह जानता ही नहीं। गाने-बजानेवालों, वेश्याओं, हींजड़ों और ऐसे ही और नीच आदमियों को वह राज्य का रुपया बाँट रहा है। क्योंकि बादशाह के यहाँ ऐसे ही लोगों का अधिक आदर है। यही लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप में राज्य के बड़े-बड़े उहदों का उपभोग कर रहे हैं। कहीं भी आप जाइए, इन लोगों की प्रभुता का पता आपको अवश्य लगेगा। प्रजा को ये लोग उलटे-छुरे से मूँड़ रहे हैं। न ऐसा घृणित राज्य मैंने कभी देखा और न ऐसा अयोग्य बादशाह।"

वज़ीर ने अपनी लड़की बादशाह को ब्याह दी थी। अपनी वज़ारत की जड़ मज़बूत करने के लिए मानों उसने इस ब्याहरूपी जाल में बादशाह को फँसा लिया था। वह हमेशा बादशाह की तारीफ़ किया करता था। जो कुछ बादशाह करता था वज़ीर उसको अच्छा कहता था। वह अपनी बातों से बादशाह को सुझाता था कि न आपके समान लायक और कोई बादशाह ही हुआ और न आपका ऐसा अच्छा राज्य-प्रबन्ध ही कभी किसी ने किया। आपकी राज्य-प्रणाली सर्वथा निर्दोष है। इसे ऐसी ही जारी रखिए। वज़ीर साहब की यही पवित्र मन्त्रणा थी। इसी में उसका और उसके आउरदों का भला भी था।

वाजिदअलीशाह हमेशा अपने रङ्ग में मस्त रहते थे। उन्हें राज्य के काग़ज़ात देखने की फ़ुरसत ही न थी। रेज़िडेंट के भेजे हुए पत्र भी आप अक्सर न देखते थे। उनके जवाब बहुधा और ही लोग, बिना उनसे पूछे, भेज दिया करते थे। एक दफ़े बादशाह अपने ख़वास से नाराज़ हो गया। उसका नाम था हसनख़ाँ। उसके घर की तलाशी ली गई। वहाँ काग़ज़ों के कई बंडल मिले। उनमें रेज़िडेंट के भेजे हुए भी कई लिफ़ाफ़े थे। उन पर "ज़रूरी" लिखा था। पर वे खोले तक न गये थे। यह हालत बादशाह की थी। वज़ीर साहब को भी राजकाज करने की कम फ़ुरसत रहती थी। जो काग़ज़ वह देखता था उस पर न अपने हाथ से हुक्म लिखता था और न दस्तख़त ही करता था। वह सिर्फ़ देखने की तारीख़ लिख देता था। महीना, साल और हुक्म उसके नायब, मुहर्रिर, दोस्त और मेहरबान इत्यादि लिखा करते थे। जब कोई त्योहार वग़ैरह आ जाता था तब काग़ज़ों के ढेर लग जाते थे। वज़ीर साहब हर मिसल के ऊपर सिर्फ़ २, ३, १०, २१ इत्यादि देखने की तारीख़ के सूचक

अङ्क लिख कर सब की गठरी बनाकर, उसे अपने सहायक मुलाज़िमों को भेज कर, निश्चिन्त हो जाते थे। उन काग़ज़ों में चाहे जैसी ज़रूरी बातें हों, वज़ीर साहब को कुछ परवा न थी। आपके नायब और विश्वासपात्र मुलाज़िम ही आपके लिए नज़राना की फ़िक्र करते थे। जो कुछ वज़ीर को इस तरह मिलता था उसका हिस्सा वे लोग भी पाते थे। वे वज़ीर की नमकहलाली का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। इसलिए, वज़ीर उनको दण्ड भी न दे सकता था। प्रजापीड़न-सम्बन्धी उनके बड़े-बड़े अपराधों पर उसे धूल डालनी पड़ती थी। प्रजा भी ऐसों के ख़िलाफ़ शिकायत करने से डरती थी। राज्य से माल-गुज़ारी का जो रुपया वसूल होता था उसका सिर्फ़ आधा तिहाई मुश्किल से ख़ज़ाने तक पहुँचता था। बाक़ी बीच ही में उड़ जाता था। क्योंकि पियादे से लेकर वज़ीर तक को उसमें से हिस्सा मिलता था।

जब देश में अराजकता की सीमा बहुत ही बढ़ गई तब लखनऊ के रेज़िडेंट स्लीमन साहब सब बातों को अपनी आँखों से देखने के लिए दौरे पर निकले। उन्होंने तीन महीने में अपना दौरा ख़तम किया। जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्हें बड़ा दुख हुआ। देश में चोरों, डाकुओं और लुटेरों की इतनी अधिकता थी और उन लोगों का साहस यहाँ तक बढ़ गया था कि ख़ुद रेज़िडेंट साहब का ख़ेमा उन्होंने कई बार लूट लिया! साहब कहते हैं कि शाम के वक़्त, अपने तम्बू के भीतर से मेरा निकलना मुश्किल हो गया है। मैं निकला कि सैकड़ों आदमियों ने मुझे घेर लिया। कोई रोता है, कोई चीख़ता है, कोई दुहाई देता है, कोई अरज़ी हाथ में लिये दिखा रहा है। पर मुझे खेद है, मैं इन लोगों की फ़रियादें नहीं सुन सकता। मेरा

काम इतना ही है कि मैं इनकी शिकायतें दरबार तक पहुँचाऊँ। पर वहाँ कोई सुननेवाला भी तो हो। इन लोगों में से कितनी ही स्त्रियाँ हैं। इन स्त्री-पुरुषों के प्यारे से प्यारे कुटुम्बी और रिश्तेदार मार डाले गये हैं; इनके मकान जला दिये गये हैं; इन का माल, असबाब, रुपया-पैसा लूट लिया गया है; इनकी ज़मीन छिन गई है; इनके पके पकाये खेत काट लिये गये हैं। यह सब एक ही गाँव, या पास के गाँवों, में रहनेवाले बदमाशों ने किया है। यही नहीं, किन्तु आमिल के ख़ीमे के साथ के आदमियों तक ने इन बेचारों को लूट कर इन्हें भिखारी बना दिया है। इस तरह के ज़ुल्म करते ये लोग ज़रा भी नहीं डरते। न इनको कोई सज़ा देनेवाला है, और न पता लगाने पर भी इनके पास से लूट का माल छीन कर उसके मालिक तक पहुँचानेवाला है।

शाही अफ़सरों में इतनी भी शक्ति नहीं कि वे शाही रुपया तो वसूल कर सकें। यदि बदमाश और ज़ालिम लुटेरों को वे पकड़ना भी चाहें तो पकड़ नहीं सकते। उनके पास पकड़ने के साधन ही नहीं। जो फ़ौज उनके पास है वह निकम्मी है; जो तोपें हैं वे भी निकम्मी हैं; जो जानवर हैं वे भी अधमरे हो रहे हैं। कहीं कहीं तो शाही अफ़सर इन बदमाशों के मुखियों से मिले हुए हैं। उनकी सहायता से वे बाग़ी और बिगड़ैल तअ-ल्लुक़ेदारों से शाही मालगुज़ारी वसूल करते हैं। ये बदमाश, तअल्लुक़ेदारों और मालगुज़ारों को मार डालते हैं। इस निर्द-यता के लिए इन्हें इनाम मिलता है और शाही नाज़िम या आमिल मारे गये तअल्लुक़ेदारों की ज़मीन औरों को दे देते हैं।

स्लीमन साहब ने देश में अराजकता का जो हाल लिखा है वह बड़ा ही करुणाजनक और साथ ही कोपकारक है।

उसकी सचाई पर विश्वास नहीं आता। पर जिस पुस्तक में देखिए सब कहीं वही प्राणहानि, वही लूट-खसोट, वही अग्नि-दाह, वही सर्वस्वापहरण! इससे यह कोई नहीं कह सकता कि जिस स्थिति का वर्णन किया गया है वह बिलकुल ही कपोलकल्पित है। उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है, उसमें अतिरञ्जना हो सकती है; पर निर्मूलता नहीं। स्लीमन साहब कहते हैं—

मुझे कोड़ियों अर्ज़ियाँ रोज़ लेनी पड़ती हैं। मैं देखताहूँ कि अर्ज़ी देनेवालों के होठ काँप रहे हैं और आँखों से आँसू टपक रहे हैं। क्यों? जो कुछ उनके पास था लूट लिया गया है; उनके अज़ीज़ों का सिर काट लिया गया है या अत्यन्त ही दुःखदायक रीति से मारते मारते उनके प्राण निकाल लिए गए हैं; उनके घर समूल खोद डाले या जला दिये गये हैं। यह सब किया किसने? बदमाश लुटेरों ने। इन लुटेरों ने ये लोमहर्षण अत्याचार, अपने को कुलीन और इज्ज़तदार माननेवाले राजा और तअल्लुक़ेदारों की सहायता से किये हैं! जिन पर अत्याचार हुए हैं उन्होंने अत्याचारियों को कभी तक़लीफ़ नहीं पहुँचाई; उनकी मरज़ी के ख़िलाफ़ कभी कोई काम नहीं किया; उनका कभी कोई अपराध नहीं किया। फिर भी इन पर यह ज़ुल्म क्यों? इसलिए कि उनके पास कुछ सम्पत्ति थी, जिसकी ज़रूरत उन अत्याचारी मनुष्यरूप राक्षसों को थी। इसलिए कि वे ऐसी ज़मीन को जोत-बोकर अपना गुजरान करते थे जिसे वे हत्यारे लुटेरे छीन लेना चाहते थे; या जिसे वे छोड़ कर भाग गये थे, या जिसे वे बेजोती-बोई पड़ी रखने में अपना लाभ समझते थे। इन हमलों में स्त्री-पुरुष, बालक-बूढ़े किसी पर दया न दिखाई जाती थी। इन सर्वापहारी लुटेरों के दल के

नायक बहुधा वे लोग थे जो अपने को पृथ्वीपति समझते हैं और जो इस बात का दावा करते हैं कि हम सूर्य और चन्द्रमा के वंशज हैं। मुसल्मान भी ऐसे दलों के मुखिया हैं। शाही अमलों से जिस तअल्लुक़ेदार की नहीं बनती—फिर चाहे वह अनबन जिस कारण से हो—वह समझता है कि बादशाह उसका शत्रु है; अतएव उसके प्रतिकूल हथियार उठाना और उसकी प्रजा का सर्वनाश करना उसका कर्त्तव्य है। जो लोग अँगरेज़ी फ़ौज में सिपाही या उहदेदार हैं वे अपनी शिकायतें रेज़िडेन्ट की मारफ़त कर सकते हैं। उनके सिवा और लोगों से यह कहना कि तुम किसी शाही अफ़सर के पास जाकर फ़रियाद करो मानों उसकी दिल्लगी करना है; मानों उसके ताज़े घावों पर नमक छिड़कना है। कोई आमिल, नाजिर, चकलेदार या कोई अफ़सर यह नहीं समझते कि बदमाशों और अत्याचारियों को पकड़ना और दण्ड देना उसका काम है। और यदि वे पकड़ें भी तो उनको अपनी तरफ़ से खिलाना पड़ता है और अपनी तरफ़ से उनके रहने का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। यदि वे उन्हें लखनऊ भेज देते हैं तो कुछ दिनों में वे अपनी रिहाई मोल लेकर फिर वापस आजाते हैं। फिर उनके ख़िलाफ़ सिर काटने, डाके डालने, आदमियों का अङ्ग-भङ्ग कर डालने, स्त्रियों को बेइज़्ज़त करने और बड़े-बड़े मकानों को जला कर ख़ाक़ कर देने इत्यादि के चाहे जितने और जैसे पक्के सबूत मिलें उनकी कोई परवा नहीं करता। एक अफ़सर के दिये हुए सज़ा के हुक्म की इज़्ज़त दूसरा अफ़सर एक तिनके के बराबर भी नहीं करता।"

१२ जनवरी १८५० ईसवी को रेज़िडेन्ट साहब का एक पड़ाव नवाबगञ्ज में था। पानी बरसने के कारण साहब को

एक दिन वहाँ रहना पड़ा। वज़ीर आज़म, अलीनकीख़ाँ, भी उस समय वहीं दौरे पर थे। पर आपका प्रबन्ध ऐसा ख़राब था कि आपकी छोलदारियाँ वक़्त पर न आईं। इसलिए रेज़िडेंट साहब को लाचार होकर अपनी दो-तीन छोलदारियाँ देनी पड़ीं। यदि वे इतनी कृपा न करते तो वज़ीर साहब को बरसते में पड़ा रहना पड़ता। तीन दिन के बाद वज़ीरे आज़म तशरीफ़ ले गये। उनके आदमियों ने साहब की कृपा का बदला इस तरह दिया कि तम्बुओं के प्रायः सभी रस्से वे काट ले गये। बाहर की कुछ क़नातें भी उठा ले गये; और भीतर के दो-चार क़ालीन भी ग़ायब करते गये! उनके आदमियों ने जब रेज़िडेंट तक के माल पर हाथ मारा तब दूसरों के माल की तो बात ही न कीजिए। वे लोग जहाँ-जहाँ ठहरे वहाँ-वहाँ पास-पड़ोस के गाँवों को उन्होंने बड़ी ही निर्दयता से लूटा। रेज़िडेंट के आदमी उनका मुँह ताकते रह गये। लूटने से वे उनको मना न कर सके। वे डरे कि कहीं लुटेरों में वे भी न शामिल समझे जायँ। आमिल और चकलेदारों के आदमी इन लोगों से भी बदतर थे। जितने शाही अफ़सर थे प्रायः सभो इसी तरह लूट-खसोट करते थे। न उनको प्रजा पर दया आती थी, न बादशाह के बदनाम होने ही की परवा उन्हें थी। इस ज़ुल्म को रोकने की कोई ज़रा भी चेष्टा न करता था। यदि कोई अफ़सर देखता कि किसी ग़रीब आदमी का छप्पर उसके आदमियों के सिर पर तापने के लिए उठाया जा रहा है, या गन्ने, गेहूँ, ज्वार या धान से लहराता हुआ किसी का खेत चारे के लिए काटा जा रहा है, तो भी वह कुछ न कहता। मानों ये बातें इतनी तुच्छ थीं कि ध्यान देने योग्य ही न थीं।

जब कोई शाही पैदल फ़ौज या रिसाला "मार्च" करता था, या जब कोई शाही अफ़सर दौरे पर होते थे, तब वे चारा कभी मोल न लेते थे। उनको शाही हुक्म था कि वे जितना चारा चाहें प्रजा से मुफ़्त ले लें। यदि रिसाले में एक हज़ार घोड़े हों तो उन सब के लिए प्रजा ही चारा दे। लकड़ी भी मुफ़्त में देने का हुक्म उन्हें था। इन चीज़ों के लिए प्रतिदिन आदमियों का एक दल बाहर निकलता था और जहाँ जो चीज़ मिलती थी ज़बरदस्ती ले आता था। ऐसे दलों के आदमी घास, भूसा और ईंधन ही न लेते थे, किन्तु और जो कुछ उनके हाथ लगता था वह भी छीन लाते थे। इस कारण जहाँ से फ़ौज निकलती थी, या जहाँ किसी अफ़सर का पड़ाव पड़ता था, वहाँ आस-पास के गाँवों में शायद ही किसी के दरवाज़े पर छप्पर रहने पाता हो। चारे की भी इतनी लूट होती थी कि बेचारे ग़रीब किसानों के जानवरों को भूखों मरने की नौबत आती थी।

शाही ज़माने में कोई सात सौ अख़बारनवीस थे। उनका काम था कि जितनी बातें जानने लायक हों उनकी रिपोर्ट वे दरबार को करें। बहुधा ऐसी वारदातें होती थीं कि सैकड़ों आदमी मारे जाते थे; कितने ही गाँव जला कर ख़ाक कर दिये जाते थे; लाखों रुपये का माल-असबाब लुट जाता था—पर ये लोग ज़बान तक न हिलाते थे—एक हुरूफ़ तक काग़ज़ पर लिखने की मिहनत न उठाते थे। विद्रोही लोग उनका मुँह रुपये से बन्द कर देते थे। भारी भारी वारदातों का जब पता लगता था तब अख़बारनवीसों की रिपोर्टें ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ी जाती थीं, पर उनमें ऐसी वारदातों का नामोनिशान तक न मिलता था। इन लोगों की तनख़्वाह में बादशाह कोई तीन हज़ार रुपया महीने में उठाता था, अर्थात् साल भर में छत्तीस

हज़ार। पर ये लोग इतना माल मारते थे कि कोई डेढ़ लाख रुपया ये दरबार के अफ़सरों और उनके आउरदों को उलटा हर साल नज़रों में दे डालते थे। जब उनकी रिपोर्टों में किसी घटना का उल्लेख न मिलता था तब उनसे कैफ़ियत माँगी जाती थी। पर डेढ़ लाख रुपया लेनेवालों की बदौलत उनका बाल न बाँका होने पाता था। वे वैसे ही शेर बने रहते थे और विद्रोहियों के अत्याचारों को छिपाते चले जाते थे। ये अख़बार-नवीस यदि रिपोर्ट करते भी थे तो कुछ फल न होता था। अवध-सम्बन्धी एक किताब में ऐसी १७ रिपोर्टों का हवाला है। उन सब पर वज़ीर के नाम दरबार का हुक्म हुआ कि रिपोर्ट की गई बातों की वे जाँच करें और अत्याचारियों को दण्ड दें। परन्तु वज़ीर ने उन हुक्मों की रत्ती भर भी परवा न की और चोर, बदमाश, लुटेरे पूर्ववत् लूट मार करते, आदमियों को मारते और गाँवों को जलाते रहे।

बादशाह के नाज़िमों अर्थात् गवर्नरों को बहुत सी फ़ौज रखनी पड़ती थी। जहाँ-जहाँ वे जाते थे फ़ौज उनके साथ रहती थी। कुछ तो लोगों को अपना प्रभुत्व दिखलाने के लिए वे फ़ौज लिए हुए घूमते थे और कुछ इसलिए कि बिना फ़ौज के बाहर निकलते वे डरते थे। पृथ्वीपति लोग अकसर अपनी मालगुज़ारी न देते थे। अतएव नाज़िमों के वे शत्रु हो जाते थे और यदि उन्हें कमज़ोर पाते थे तो रास्ते में लूट लेते थे और मार तक डालते थे।

शाही फ़ौज बुरी दशा में थी। फ़ौज के कमांडर लखनऊ में मौज किया करते थे और जिनकी बदौलत उनको यह पद मिलता था उनकी ख़ुशामद में लगे रहते थे। यहाँ तक कि फ़ौज यदि लड़ाई पर जाती थी तो भी वे बहुधा अपने विलास-

मन्दिर से बाहर न निकलते थे। जिस पलटन में ९०० जवानों का नाम था उसमें गिनने पर चार-पाँच सौ आदमी मुश्किल से निकलते थे। फ़ौज के हथियार पुराने और बेकाम थे। गोली-बारूद अकसर बाज़ार से मोल लेना पड़ता था। तोपें इतनी पुरानी और मरम्मततलब थीं कि किसी बड़े अफ़सर की सलामी के समय वे अकसर फट जाती थीं। जिन बैलों और घोड़ों के लिए रोज़ दो-दो सेर दाने के दाम दिये जाते थे उन्हें दो छटाँक भी न मिलता था! सिपाही की तनख़्वाह चार रुपये थी। उसमें से भी कुछ कट जाता था। उसको अपने ही पैसे से वरदी और हथियार वग़ैरह मोल लेना पड़ता था। सिपाहियों को दस-दस बारह-बारह महीनों तक तनख़्वाह ही न मिलती थी। कभी-कभी फ़ौजी अफ़सर उनके हथियार बेच दिया करते थे और जो कुछ उनसे वसूल होता था उसे सरकारी काम में लगा देते थे। इस दशा में भी फ़ौज से यह आशा की जाती थी कि वह बादशाह के लिए लड़े! लड़ाई के समय फ़ौज के सिपाही बहुधा ढूँढ़े ही न मिलते थे और यदि मिलते भी थे तो लड़ाई छिड़ते ही वे भाग खड़े होते थे।

शाही नाज़िम और उनके मुलाज़िम इतने अन्यायी और प्रजापीड़क थे कि वे तअल्लुक़ेदारों से अधिक मालगुज़ारी ज़बरदस्ती वसूल कर लेते थे। मालगुज़ारी वसूल करने के दो तरीक़े थे—इज़ारा और अमानी। इज़ारा एक तरह का ठेका था। जहाँ इज़ारे के द्वारा लगान या मालगुज़ारी वसूल होती थी वहाँ ठेकेदार ज़ुल्म करते थे और जहाँ अमानी के द्वारा तहाँ शाही मुलाज़िम प्रजा को लूटते थे। फिर इन मामलों की सुनवाई न होती थी। मामूली आदमियों की तो बात ही नहीं, बड़े-बड़े राजा बरसों लखनऊ में पड़े रहते थे और फिर मूड़

मार कर अपने घर लौट आते थे। इसी कारण से जितने राजा, महाराजा, तअल्लुक़ेदार और ज़मीदार थे सबने फ़ौज रक्खी थी। सबने क़िले बना रक्खे थे। क़िले की बुर्जों पर सबने तोपें चढ़ा रक्खी थीं। जिनको अपनी इज़्ज़त का कुछ ख़याल था, जो अपना तअल्लुक़ा छीने जाने से बचाना चाहते थे, जो अपने असामियों की रक्षा शाही मुलाज़िमों से कराना चाहते थे—वे बाग़ी हो जाते थे; नाज़िमों से लड़ते रहते थे; मालगुज़ारी देना बन्द कर देते थे और यदि वे अपने को कमज़ोर पाते थे तो कभी जंगल में, कभी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य में, भाग जाते थे। यदि उनकी रियासत किसी और को मिल जाती थी तो मौक़ा पाकर वे उस पर हमला करते थे। ऐसे हमलों में सैकड़ों आदमी काम आ जाते थे। ऐसे दङ्गे-फ़िसाद बराबर हुआ ही करते थे और बादशाही फ़ौज विद्रोहियों का पारिपत्य न कर सकती थी। अवध के वर्तमान तअल्लुकेदारों में से, सम्भव है, कुछ लोग इन्हीं पुराने—वाजिदअलीशाह के ज़माने के—तअल्लुकेदारों के वंशज हों। इस दशा में इनका यह कहना कि जङ्गलों को साफ़ करके हमने अपनी-अपनी रियासतें पैदा की हैं, इस कारण हमीं इसके पुश्तैनी मालिक हैं, बड़ा ही कौतूहलजनक दावा है।

शाही मुलाज़िम ऐसे मक्कार, झूठे, धोखेबाज़ और अन्यायी थे कि उनका हाल सुन कर जी जल उठता है और आन्तरिक घृणा पैदा होती है। छोटे-छोटे मुलाज़िमों ही की यह दशा न थी। नाज़िम, अर्थात् गवर्नर या कमिश्नर, तक बड़े-बड़े घृणित काम करते थे। जिसके पास वे कुछ देखते थे उसे पकड़ लेते, उसे बड़ा ही भयङ्कर शरीर-दण्ड देते थे; किसी-किसी को जान तक से मार डालते थे, उनके बाल-बच्चों की दुर्दशा करते

थे, उनकी स्त्रियों को अपने घर में डाल लेते थे। जो कोई अपना घर-द्वार बेच कर उनको ख़ातिरख़्वाह रुपया देता था या तो वह बचता था, या जो उनका मुक़ाबला करके अपने बाहुबल से अपनी रक्षा कर सकता था वह बच सकता था।

बाराबङ्की के ज़िले में रामदत्त पाँडे नाम का एक महाजन था। उसके पास कुछ इलाक़ा भी था। इलाक़े की मालगुजारी उसने पाई-पाई चुका दी थी। उसने अस्सी हज़ार रुपया गोंडा के नाज़िम, मुहम्मदहुसैन, को क़र्ज भी दिया था। एक बार वह अयोध्या जाने के लिए निकला। राह में उसने नाज़िम साहब से भी मिलना मुनासिब समझा। ८ नवम्बर १८५० को वह, तुलसीपुर के राजा के साथ, नाज़िम से मिला। वहाँ नाज़िम साहब ने उसे एकान्त में बुलाया। उसे विश्वास दिलाया गया कि अलग मिलने में कोई डर नहीं। नाज़िम साहब के सामने उसका बाल भी बाँका न होगा! जब रामदत्त पाण्डे नाज़िम से मिला तब उससे नाज़िम ने और रुपया क़र्ज़ माँगा। रामदत्त ने देने से इनकार किया। बस वहीं उसका सिर उतार लिया गया। उसका डेरा लूट लिया गया। उसके साथी मार डाले गये। इतने ही से नाज़िम को सन्तोष न हुआ। उसने रामदत्त की रियासत पर हमला किया; कई गाँव और क़सबे लूट लिये; कई जला दिये; सैकड़ों आदमियों को मार डाला और कोई १२ लाख रुपये का माल असबाब लूट ले गया। दर-बार को उसने इसकी रिपोर्ट इस तरह की कि रामदत्त ने कई साल से सरकारी मालगुज़ारी न दी थी, जिन लोगों की उसने ज़मानत दी थी उनकी भी मालगुजारी अदा करने की उसने कोई चेष्टा नहीं की, बार-बार माँगने पर उलटा उसने गुस्ताख़ी से भरे हुए जवाब दिये और ५०० हथियारबन्द आदमी लेकर

वह मुझ पर चढ़ आया। मैंने उसका मुक़ाबला किया और बड़ी मुश्किलों में उसे मैंने मारा। इस बहादुरी पर ख़ुश होकर वाजिदअलीशाह ने अपने इस वीर और स्वामिभक्त नाज़िर को ख़िलत भेजी। पर गोरखपुर के अँगरेज़ मैजिस्ट्रेट, चेस्टर, साहब को सच्ची बात मालूम होगई। उन्होंने रेज़िडेंट को लिखा। रेज़िडेंट की रिपोर्ट पर नाजिम साहब निकाले गये। उन पर मुक़द्दमा चला। पहले तो वे भागे, पर पीछे से लाचार होकर वे लखनऊ में हाज़िर हुए। मालूम नहीं उनका क्या हुआ। पर बहुत सम्भव है कि उन्होंने अपनी रिहाई मोल लेली हो और वे बेदाग़ छूट गये हों।

गोंडा ज़िले में रघुबरसिंह नाम का एक ठेकेदार था। उसके और उसके मुलाज़िमों के अत्याचार का वर्णन, स्लीमन साहब की किताब में पढ़ कर, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अनेक इज्ज़तदार आदमियों की इज्ज़त उन्होंने बिगाड़ दी। अनेकों को उन्होंने जान से मार डाला। घर फूँक देना; औरतों को उठा ले जाना; गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को बेंच लेना तो उनके लिए कोई बात ही न थी। ये लोग जिनको क़ैद कर लेते थे उनको भयानक दण्ड देते थे। जबतक वे ख़ातिरख़्वाह रुपया न देते थे तबतक उनको प्रति दिन बहुत ही हृदयद्रावक दण्ड मिलता था। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों वस्त्रहीन करके बाँध कर पीटे जाते थे; माघ-पूस के जाड़ों में वे वैसे ही विवस्त्र बाहर डाल दिये जाते थे; उनके नाख़ूनों के भीतर जलती हुई लोहे की कीलें गाड़ दी जाती थीं; तेल से भीगा हुआ कपड़ा बाँध कर मशाल की तरह उनके हाथ जलाये जाते थे; गोली बारूद लगा कर सूख जाने पर उनकी दाढ़ी में आग लगा दी ज़ाती थी; अङ्गारे की तरह लाल दस्तपनाह से उनकी जीभें

बाहर खींच ली जाती थीं और फिर उनमें छेद किये जाते थे !!! एक दो के नहीं, सैकड़ों की ऐसी ही दुर्दशा की जाती थी—स्त्रियों और बच्चों तक के ऊपर दया नहीं दिखाई जाती थी। जो लोग इस तरह मारते-मारते मर जाते थे उनकी लाशें कहीं कीचड़ में, कहीं पुराने सूखे हुए कूवों में, कहीं काँटों में फेंक दी जाती थीं और उनके कुटुम्बी और रिश्तेदार उन्हें उठा कर ले जाने तक न पाते थे ! इस तरह के घोर दण्ड और उपद्रव होने पर भी उनके शमन करने का कोई ठीक प्रबन्ध न होता था। बादशाह सलामत को अपने हींजड़े, गाने, बजाने और बेगमों से ही फ़ुरसत न थी। आपके अफ़सर या तो इतने कमज़ोर थे कि ऐसे-ऐसे ज़ालिम आदमियों का पारिपत्य ही न कर सकते थे, या वे ख़ुद ऐसे लोगों से मिले हुए थे। वे ख़ुद ही क्या कम निर्दयी, अन्यायी और प्रजापीडक थे !

जिस देश की ऐसी दुर्व्यवस्था हो उसमें चोरों, लुटेरों और डाकुओं का साम्राज्य होना सर्वथा स्वाभाविक है। वाजिदअलीशाह के ज़माने में इन लोगों का बेतरह प्राबल्य था। उनके डर से राह चलना लोगों को मुश्किल हो गया था। किसी का जान-माल सुरक्षित न था। जिसके पास बदमाशों ने चार पैसे देखे उसे ही लूट लिया। गाँव के गाँव जला देना सहज सी बात थी। औरतों और जवान लड़कियों का उठा ले जाना और उनको बेइज्ज़त करना रोज़ की घटनायें थीं। कुछ ज़मींदार तक बाग़ी हो गये थे। उन्होंने अपने पड़ोसियों की ज़मींदारी छीन ली थी। इन लोगों के ज़ुल्म की कहानी सुन कर बदन काँप उठता है। ऐसे ज़ालिम ज़मींदारों में देवा का ज़मींदार भूरेख़ाँ और भवानीगढ़ का ज़मींदार महीपतिसिंह प्रमुख थे। इन लोगों के घोर कर्मों की तालिका बहुत बड़ी है। ये आदमियों को

जीता जला देते थे; उनके हाथ तोड़ डालते थे; पैर काट डालते थे और इस दुर्गति के बाद उन्हें रास्ते में फेंक देते थे जहाँ मांस-ख़ोर पक्षी उनका काम, धीरे-धीरे, मर्म्मकृन्तन वेदना देकर, तमाम करते थे। जबतक लोग इनको मनमाना धन न देते थे तब तक उनके साथ ये बड़ी ही निर्दयता और निष्ठुरता से पेश आते थे। किसी-किसी को ये नाक काट लेते थे। फिर गधे पर चढ़ा कर गर गरदन से सुअर का बच्चा लटका देते थे। इस अवस्था में उसे ये गाँव भर में घुमाते थे। गङ्गा, महादेव की मूर्ति और क़ुरान को उठा कर ये लोग प्राणदान का अभय वचन देते थे। पर उसके थोड़ी ही देर बाद निःसङ्कोच होकर निरपराध आदमियों का सिर धड़ से जुदा करने में ज़रा भी धर्म्महानि या भय न मानते थे। लोगों की बहु बेटियाँ उनके घरवालों के सामने बेइज़्ज़त करना और काफ़ी रुपया मिलने तक उन्हें अपने पास रखना इनका रोज़ का काम था। ब्राह्मणों के मुँह में थूक देना उनके मुँह पर मैले का तोबड़ा चढ़ा देना, काँटों पर लिटा कर उन्हें बेदरदी से पीटना इनकी दृष्टि में बहुत छोटी सज़ा थी। जहाँ किसी के घर अच्छी स्त्री इन्होंने देखी तहाँ उसे छीना; जहाँ किसी के अच्छी फ़सल देखी तहाँ उसे काटा। जहाँ किसी के अच्छे जानवर देखे तहाँ उन्हें उड़ाया; जहाँ किसी के क़ब्ज़े में अच्छी ज़मीन देखी तहाँ उसे छीना। इनका इतना आतङ्क था कि लोग इनका नाम सुनते की काँपते थे।

ज़मींदारों और तअल्लुक़ेदारों को यह वर्णन पढ़ कर लेखक पर कोप न करना चाहिए। लेखक तो सिर्फ़ स्लीमन साहब की किताब से महीपतिसिंह वग़ैरह के कारनामों के कुछ अंश की नक़ल मात्र कर रहा है।

ऐसे ऐसे पाषाण-हृदय राक्षस दो-चार नहीं अनेक थे।

कोई गाँव या क़स्बा ऐसा न था जहाँ लूटमार न होती हो। इसलिए हर गाँव में गाँववालों ने पासियों का एक एक दल नौकर रक्खा था। ये लोग धनुर्वाण रखते थे और अपने गाँव की फ़सल वग़ैरह की रक्षा दूसरे गाँववालों के आक्रमण से करते थे। इस काम के लिए हर आदमी से, फ़सल पर उन्हें अनाज मिलता था।

इस दुर्व्यवस्था और प्रजापीडन का हृदयभेदक दृश्य मेजर जनरल स्लीमन ने प्रत्यक्ष देखा। उन्होंने गवर्नमेंट को उसकी रिपोर्ट की और लिखा कि सार्वभौम राजा होने के कारण अवध की इस दुर्दशा को देखते रहना ईश्वर और प्रजा, दोनों की दृष्टि में पाप करना है। और सुलहनामे या सन्धिपत्र की शर्तों के अनुसार ऐसे समय में अवध की राज्य-व्यवस्था में दस्तन्दाज़ी करना न्याय ही होगा। उन्होंने सिफ़ारिश की कि अवध के सूबे का राज्य-प्रबन्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने हाथ में लेले; बादशाह की निकम्मी फ़ौज को जवाब देदे; बादशाह की मान-मर्यादा के अनुकूल उसकी पेंशन नियत कर दे, और प्रजा की विपत्ति दूर करने की यथासाध्य चेष्टा करे। पर कम्पनी अवध को अपने राज्य में न मिलावे❋; अवध की प्रजा के हित के लिए देश का प्रबन्ध वह अपने अफ़सरों द्वारा करावे; और ख़र्च से जो बचत हो उसे प्रजा ही के लाभ के लिए कम्पनी काम में लावे। उन्होंने यह भी लिखा कि—'यद्यपि

❋ Were we to take advantage of the occasion to annex or confiscate Oudh, or any part of it, our good name in India would inevitably suffer and that good name is more valueable than a dozen of Oudh

—Major General Sleeman's Dairy,

अवध की प्रजा को अराजकता के कारण अनेक मर्म्मकृन्तक कष्ट सहन करने पड़ते हैं तथापि वह कम्पनी के शासित देश में रहने की अपेक्षा बादशाह के अधीन रहना ही अधिक पसन्द करती है। इसका कारण यह है कि अँगरेज़ी राज्य में दीवानी कचहरियों में मुक़दमें लड़-लड़कर दोनों पक्षवाले उजड़ जाते हैं; लाभ केवल वकीलों और मुख़तारों को होता है। एक रुपये के दावे के लिए चालीस चालीस, पचास पचास कोस दूर कचहरियों तक दौड़ना पड़ता है। फिर, हमारा क़ानून अनिश्चित ठहरा। वह कई तरह का है। एकही बात के कई अर्थ लगाये जाते हैं। कभी कभी कुछ का कुछ हो जाता है। जज लोग बेपरवाह और घमण्डी हैं।"

स्लीमन साहब यह रिपोर्ट भेज कर बीमार पड़ गये और छुट्टी पर चले गये। उनके बाद जनरल औट्रम लखनऊ के रेज़िडेंट हुए। १८५४ ईसवी में लार्ड डलहौज़ी ने जनरल औट्रम से भी एक रिपोर्ट माँगी। उन्होंने लिखा कि यहाँ की दुर्व्यवस्था पूर्ववत् बनी हुई है। सिर्फ़ वज़ीर को नज़रें वग़ैरह मिलाकर, सालाना, ८ लाख १४ हज़ार रुपया मिलता है। १८५३-५४ ईसवी में प्रजा से १ करोड़ २० लाख रुपया, कर और मालगुजारी इत्यादि के रूप में, वसूल हुआ था। उसमें से सिर्फ़ ३० या ४० लाख रुपया लखनऊ पहुँचा। बाक़ी सब का सब शाही मुलाज़िमों ने बीचही में हड़प कर लिया। जहाँ इतनी आमदनी और इतना ख़र्च वहाँ न्याय-विभाग के लिए, एक साल में, सिर्फ़ १६ सौ रुपया दिया गया? वज़ीर और दीवान से लगा कर पियादों तक को जनरल औट्रम ने घूँसख़ोर बताया।

इस रिपोर्ट को पढ़ कर, १८ जून १८५५ को; लार्ड डलहौज़ी ने अपना कर्तव्य स्थिर किया। उन्होंने निश्चय किया कि

अवध का सूबा अँगरेज़ी राज्य में मिला दिया जाय और वाजिदअलीशाह को १२ लाख रुपया साल पेंशन दी जाय।

४ फ़रवरी १८५६ को रेज़िडेंट साहब लाट साहब का ख़रीता लेकर वाजिदअलीशाह से मिले। ख़रीते को पढ़ कर वाजिद-अलीशाह को अनिवार्य्य दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"मैंने ऐसा क्या अपराध किया जो मुझ पर ऐसा प्रसङ्ग आया"! इसका उत्तर ख़रीते में दे ही दिया गया था। वह यह था कि तुमने १८०१ ईसवी के सन्धि-पत्र के अनुसार काम नहीं किया; अपने देश का सुप्रबन्ध न करने से तुमने सब कहीं अराजकता फैला दी; इससे कम्पनी को तुम्हारा राज्यसूत्र अपने हाथ में लेना पड़ा। तीन दिन में बादशाह को अवध का सूबा कम्पनी के सिपुर्द कर देने का हुक्म हुआ। इस बात को वाजिदअली-शाह ने मंज़ूर न किया। इससे अँगरेज़ों ने उन्हें ज़बरन कलकत्ते भेज दिया। वे बहुत रोये धोये; उनके पूर्वजों ने अँगरेज़ों पर जो उपकार किये थे, उनका उन्होंने बार-बार स्मरण दिलाया; पर सब व्यर्थ हुआ। अवध अँगरेज़ों का हो गया। १८५६-५७ ईसवी में जब लखनऊ में सिपाही-विद्रोह हुआ तब वाजिद-अलीशाह पर यह इलज़ाम लगाया गया कि वे भी उसमें शामिल रहे हैं। इस कारण कलकत्ते के मटिया-बुर्ज़ से हटा कर वे वहाँ के क़िले, फ़ोर्ट विलियम, में रक्खे गये। पर ९ जूलाई १८५९ को लार्ड केनिंग ने उन्हें इस प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया। तब से, १२ लाख रुपये साल पर उन्हें वैभवहीन और परतन्त्रदशा में अपने दिन काटने पड़े। २१ सितम्बर १८८७ ईसवी को उनकी मृत्यु हुई।

वाजिदअलीशाह ने कलकत्ते में भी लखनऊ की एक छोटी सी नक़ल बना दी थी। अपने लिए मनोहर महल और अपनी

बेगमों, बालबच्चों और परिवारों इत्यादि के लिए अच्छे-अच्छे मकान तैयार करा दिये थे। वहीं आप सदा रहते थे। शायद ही कभी बाहर निकलते रहे हों। जानवरों और चिड़ियों का आपको बड़ा शौक़ था। उन्हीं से, और कविता से भी, आपका मनोरञ्जन होता था। चिड़ियों और ख़ास-ख़ास जानवरों की मुँहमाँगी क़ीमत आप देते थे। एक दफ़े एक बाज़ पत्ती की क़ीमत कई हज़ार रुपये—शायद एक लाख—आपने दिये थे। पास काफ़ी रुपया न था। इस कारण आपने सोने के एक पलँग का सोना गला कर बक़ाया क़ीमत अदा की। दया की मात्रा आप में, सुनते हैं, बहुत अधिक थी। आप अपने सारे ख़ानगी मुलाज़िमों और नौकरों को लखनऊ से कलकत्ते ले गये थे। किसी को बरख़ास्त नहीं किया।

वाजिदअलीशाह के वशंज अभी तक कलकत्ते में है और गवर्नमेंट की प्रदत्त पेंशन पाते हैं। १८५१ में उनका पुत्र बाग़ियों से मिल गया था। वह राना बेनीमाधवसिंह आदि से मिल कर ग़दर के समय, अँगरेज़ों से लड़ा था; पर पीछे उसे हार कर नेपाल भाग जाना पड़ा।

इस तरह अपनी विलासप्रियता के वशीभूत होकर वाजिद-अलीशाह ने अपने पूर्वजों का राज्य सदा के लिए खो दिया। वाजिदअली के जैसे कुछ कुलक्षण आज-कल इस प्रान्त—इस प्रान्त ही के क्यों, इस देश के भी—कुछ नर-राजों और महीप-मानियों में भी पाये जाते हैं। उनको अपने मान, सम्मान, धन, जन और प्रजा की बहुत ही कम परवा रहती है। क्या वे अवध के इस अन्तिम बादशाह के चरित से कुछ उपदेश ग्रहण करेंगे?

[सितम्बर १९२१

——

मारकुइस ईटो

जिस विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष ने जापान को अल्प क़ाल ही में इस योग्य कर दिया कि उसने संसार में सबसे बड़े शक्तिशाली देश, रूस को परास्त कर दिया। उसका नाम ईटो है। ईटो के पिता का नाम जजो ईटो था। वे बाग़वान थे। उनको दो तलवारें बाँधने का अधिकार पहले न था। जापान में समुराई वंश के लोगों ही को दो तलवारें रखने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वे लोग औरों की अपेक्षा अधिक माननीय माने जाते हैं। परन्तु जजो ईटो की सुविशेष योग्यता का, विचार करके, पीछे से, उनको भी दो तलवारें बाँधने का अधिकार मिल गया था।

मारकुइस ईटो उदारता की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। उन्होंने अनेक होनहार युवकों की वित्त बाहर सहायता की है। वे युवक इस समय जापान में बहुत अच्छे अच्छे पदों पर अधिष्ठित हैं। चीन के कोठली हुंग-चंग की तरह अगर वे चाहते तो अपरिमित धन सञ्चय कर लेते। परन्तु वे अत्यन्त सत्य-प्रिय, सन्तोषी और नेक-नीयत आदमी हैं। अनुचित मार्ग से द्रव्य इकट्ठा करना वे महान् पातक समझते हैं।

ईटो चार दफ़े मिकाडो के प्रधान मन्त्री रह चुके हैं। इस समय यद्यपि वे प्रधान मन्त्री के पद पर नहीं, तथापि जितने बड़े बड़े काम होते हैं उन सब में वे गुप्त रीति से योग देते हैं। बिना उनकी राय, बिना उनकी मन्त्रणा के कोई काम नहीं होता। इस समय जो रूस और जापान का प्रलयङ्कर युद्ध हो रहा है उसमें ईटो के बुद्धि-वैभव का पूरा पूरा उपयोग किया गया है। अभी थोड़े ही दिन हुए वे कोरिया गये थे। वहाँ राजधानी सिउल में रह कर और वहाँ की अराजकता का निवारण करके उन्होंने नवीन प्रकार का प्रबन्ध किया है।

इस समय भूमण्डल के भिन्न भिन्न देशों के जितने प्रधान मन्त्री हैं, मारकुइस ईटो उन सबों में कम धनी हैं। उनको सिर्फ़ उतना ही धन मिलता है जितने से उनका मामूली खर्च चल जाय। यदि कभी उनको अधिक रुपया मिल जाता है तो उससे वे होनहार जापानी युवकों को योरोप या अमरीका में विद्याध्ययन करने या कला-कौशल सीखने के लिए भेज देते हैं। उनकी निर्धनता का एक उदाहरण लीजिये। जापान की राजधानी टोकियो में कई एकड़ ज़मीन एक ऐसे मौक़े पर थी जो बहुत ही अच्छा था। वह ज़मीन ईटो के पिता ने प्राप्त की थी। ईटो ने वहीं पर अपने रहने के लिए एक बहुत अच्छा मकान और

बाग़ बनाया। वहीं पर वे बहुत दिनों तक रहते भी रहे। परन्तु एकाएक उनको रुपये की ज़रूरत पड़ी। अतएव अपने मित्र वाइकौंट कागबा की मारफ़त उसे उन्होंने बेरन इबासकी को सिर्फ़ १८ हज़ार रुपये पर बेंच डाला। इस जायदाद की क़ीमत इस वक्त़ कम से कम १५,००,००० रुपये कूती जाती है! तब से मारकुइस ईटो के पास रहने को मकान नहीं है। वे इधर उधर मारे मारे फिरते हैं। कभी वे नतसुशीमा में, कभी वेदावेर में, कभी इसरागा में, कभी अज़बू में और कभी टोकियो में रहते हैं। सुनने से तअज्जुब होता है, परन्तु उनकी कुल ज़ायदाद १,२०,००० रुपये से अधिक नहीं।

मारकुइस ईटो ख़लासी बन कर पहले पहल इङ्गलेण्ड पहुँचे। जहाज़ के ख़लासियों को कितना सख़्त काम करना पड़ता है यह बात छिपी नहीं। परन्तु उस अधम और परिश्रम के काम को ईटो ने बड़ी मुस्तैदी से किया। जिस समय वे लन्दन पहुँचे, उनकी जेब में सिर्फ़ चार-पाँच रुपये थे। वहाँ उन्होंने पश्चिमी देशों की सभ्यता, उनकी राज्य-प्रणाली, उनकी युद्ध-विद्या और उनके कला-कौशल को यहाँ तक सीखा कि वहाँ से लौट कर उन सब बातों की प्रतिच्छाया जापान में उन्होंने प्रकट कर दी। उनके बराबर स्वदेश-भक्त, दृढ़-प्रतिज्ञ, सत्य-प्रिय और नीति-निपुण पुरुष जापान में दूसरा नहीं। जापान का एक छत्र राज्य और वहाँ की पारलियामेंट उन्हींके अद्भुत अध्यवसाय का फल है।

मारकुइस ईटो परिश्रम से बिल्कुल नहीं डरते। जो ख़लासी का काम कर सकेगा वह क्या न कर सकेगा? आराम क्या चीज़ है, यह वे जानते ही नहीं। चार घण्टे से अधिक आप कभी नहीं सोते। सुबह जबतक उनके नौकर बिस्तर से उठते

हैं और उनके लिए कहवा तैयार करते हैं, तबतक वे बाग़ में टहला करते हैं। उनको कोई व्यसन छू तक नहीं गया। उनका सिर्फ़ एक ही निज का नौकर है, वही उनके सब काम करता है। शेष नौकर घर के काम के लिये हैं। उनके कमरे में जो सामान है, सब सादा है। कुरसियाँ कई एक अवश्य हैं, पर आराम-कुरसी एक भी नहीं! अच्छा चुरुट उनको अधिक पसन्द है; वे तम्बाकू के सच्चे परीक्षक हैं। पोशाक उनकी सादी है। "फ़ैशन" का उनको बिलकुल ही ख़्याल नहीं।

मारकुइस ईटो यद्यपि इतने सीधे-सादे हैं और यद्यपि उन के यहाँ धन की विशेषता नहीं, तथापि उनको पढ़ने-लिखने का बेहद शौक़ है। योरप और अमेरिका में आज तक जितनी उम्दा-किताबें निकली हैं वे सब उनके पुस्तकालय में विद्यमान हैं। नई नई पुस्तकें जो निकलती जाती हैं, निकलने के साथ ही उनके हाथ में पहुँच जाती हैं। जितनी पुस्तकें उनके यहाँ हैं सब उन्होंने पढ़ी हैं। जो नई पुस्तक उनके हाथ आती है उसे आवरणपृष्ठ (Title page) से लेकर अन्त तक वे बिना पढ़े नहीं रखते। पाँच से लेकर छः घण्टे तक रोज़ पुस्तकावलोकन करते हैं। जर्मन, अँगरेज़ी, फ्रेंच और चीनी भाषाओं के वे उतने ही पण्डित हैं जितने कि विश्वविद्यालय के अध्यापक होते हैं। जापानी भाषा के विषय में तो कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं। ईटो के लिए साहित्य की उतनी ही ज़रूरत है जितनी धुवांकश के लिए कोयले की ज़रूरत होती है। वे अत्यन्त मिष्ठ भाषी हैं। दूसरे देश की भाषाओं को वे उतनी ही शुद्धता से बोलते हैं जितनी शुद्धता से उन उन देशों के निवासी उन्हें बोलते हैं। उनका उच्चारण भी बहुत अच्छा है। परन्तु उनकी गिनती अच्छे वक्ताओं में नहीं।

सर येडविन आरल्ड जापान के विलक्षण भक्त थे। उन्होंने वहाँ बहुत दिनों तक निवास भी किया, वहाँ की भाषा भी सीखी और एक जापान स्त्री से विवाह भी किया। जापान के विषय में उनको बहुत अधिक ज्ञान था। मारकुइस ईटो की उन्होंने बड़ी बड़ाई की है—मिकाडो-बादशाह—के नीचे उन्होंने उन्हींकी गणना की है। उन्होंने उनको "जापान का विस्मार्क कहा है। यह सर्वथा सत्य है। ईटो की बराबर राज-नीति-कुशल पुरुष जापान में दूसरा नहीं। उन्होंने जापान को एक नये साँचे में ढाल दिया। हर विषय में उसकी तरक्क़ी की। योरप और अमेरिका में जो कुछ ग्रहण करने के योग्य था उसे उन्होंने ले लिया और जो कुछ ग्रहण करने के योग्य न था उसे छोड़ दिया। वे सर्वोत्कृष्ट गुणग्राही और दोषत्यागी पुरुष हैं। आज तक जितने प्रख्यात पुरुष हो गये हैं; प्रायः सब में एक ही एक प्रधान गुण था। परन्तु ईटो में अनेक गुणों का समुदाय है। नीति-पटुता में वे चाणक्य हैं; देशभक्ति में वे विलियम पिट हैं; दृढ़ता और साहस में वे वाशिंगटन हैं; सन्धि-विग्रह में वे विस्मार्क हैं। ऐसे मारकुइस ईटो के अनवरत परिश्रम से उन्नत और उत्साहित हुआ जापान इस समय संसार के सबसे अधिक बलवान् राज्य से भिड़ कर उसे उसने पछाड़ दिया। इस तरह उसने अपने निःसीम साहस और रण-कौशल से संसार को चकित कर दिया है। जो मृत्यु को तुच्छ समझता है; जो अपने देश के लिए धन की तो बात ही नहीं; प्राणों को भी हथेली पर रक्खे है; बड़े बड़े विजय प्राप्त करके भी जिसे जरा भी घमण्ड नहीं, ईश्वर उसका अवश्य ही कल्याण करता है।

[जुलाई १९०४

जनरल कुरोपाटकिन

कुरोपाटकिन का नाम हमारे देशवाशियों में से पहले प्राय: बहुत कम लोग जानते रहे होंगे। परन्तु जबसे रूस और जापान का युद्ध छिड़ा है तबसे जनरल कुरोपाटकिन का नाम सबकी ज़बान पर है। आपने अमानुषी वीरता के काम किये हैं; आप साहस और शौर्य्य की मूर्त्ति हैं; बल में आप भीमकाय भीम के समान हैं। आपके सेना-नायकत्व को बहुत बड़ी शोहरत है। परन्तु ऐसे विश्वविख्यात वीर के द्वारा संचालित सेना को खवीकार भतखौवे जापानी पराजय पर पराजय देते चले जा रहे हैं। रूस की समग्र स्थल-सेना का नायकत्व स्वीकार करके उसको पुनः पुनः परास्त होते देख कुरोपाटकिन अपने मन में क्या कहते होंगे, यह नहीं जाना जा

सकता। क्या पीत-वर्ण जापानी कुरोपाटकिन के पूर्व सञ्चित यश को बिलकुल ही काला कर देंगे ?

कुरोपाटकिन मशहूर योद्धा हैं। युद्ध करना उनको बहुत प्रिय है। युद्ध उनके लिए दिल बहलाव की चीज़ है। जैसे-जैसे वे अपनी इस युद्ध-प्रियता को बढ़ाते जाते हैं, तैसे ही तैसे रूस की राज-सत्ता भी एशिया में बढ़ती जाती है। कुरोपाटकिन ने रूस को क्रम से उन्नत होते देखा और अपने भुजबल से उन्होंने उसके विस्तार को बढ़ाया है। बुख़ारा और ताश-क़न्द के आस पास कुरोपाटकिन ने पहले पहले अपनी युद्ध-प्रियता की चाशनी चखी। उस समय उनकी उम्र बहुत कम थी। वे सब लेफ्टिनेंट थे। परन्तु तात्कालिक युद्ध में उन्होंने आश्चर्यकारिणी वीरता दिखलाई। इसलिए युद्ध के अन्त में दो तमगों ने उनके हृदयस्थल की शोभा बढ़ाई। साथ ही उन के पद की भी उन्नति हो गई। वे पूरे लेफ्टिनेंट हो गये।

कुरोपाटकिन के रणकौशल को देख कर उनके सेना नायकों ने उनकी बड़ी तारीफ़ की। उन्होंने सिफ़ारिश करके उन्हें अन्य देश में युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्ति के लिए भिजवाया। पहले वे बर्लिन गये, फिर पेरिस। पेरिस में फ्रांस की घुड़स-वार सेना के सुधार में कुरोपाटकिन ने बहुत सहायता की। इससे मारशल मकमोहन उन पर बहुत प्रसन्न हुए और "लीजि-यन आफ आनर" (Legion of Honour) नामक पदक उनको मिला। कुरोपाटकिन के पहले किसी रूसी अफ़सर को यह पदक न मिला था। जिस समय फ्रांस और प्रुशिया में युद्ध हो रहा था उस समय कुरोपाटकिन पेरिस में थे। प्रुशिया की फ़ौज ने उस समय पेरिस को घेर रक्खा था। उस समय कुरोपाटकिन ने बहुत तजरिबा हासिल किया। युद्धक्षेत्र में स्वयं

जाकर उन्होंने युद्ध-कौशल सीखा। उस समय तक कुरोपाटकिन अल्पवयस्क ही थे। वे अपनी भावी उन्नति के सम्बन्ध में तरह तरह के स्वप्न देख रहे थे कि तुर्किस्तान में लड़ाई छिड़ गई। इसलिए कुरोपाटकिन को रूस लौट जाना पड़ा। ख़ोकन्द के ख़ाँ से रूस लड़ा और ख़ोकन्द सदैव के लिए रूसी तुर्किस्तान में मिला लिया गया।

तुर्किस्तान के इस युद्ध में कुरोपाटकिन की योजना जनरल स्कोबेल्फ की अधीनता में हुई। वहाँ कुरोपाटकिन पर किसी कारण से स्कोबेल्फ नाराज़ हो गये। अतएव उन्होंने कुरोपाटकिन को एक ऐसा काम सौंपा जिसे करके उनके जीते लौट आने की कोई आशा न थी। कुरोपाटकिन ने अपने जनरल की इस आज्ञा को बड़ी धीरता और बड़ी दृढ़ता से सुना। वे ज़रा भी चञ्चल नहीं हुए। उन्होंने उस काम को सफलतापूर्वक करके लौट आने का मन ही मन प्रण किया। उनको हुक्म हुआ कि वे दुश्मन की फ़ौज का पता लगा लावें। इस काम को करने के लिए उन्होंने एक क़ैदी का भेष बनाया। यह करके शत्रु के दल-बल का भेद लेते हुए उसकी सेना में कुछ काल तक गुप्त तौर पर उन्होंने रहना स्थिर किया। एक हफ़्ता हो गया, न कुरोपाटकिन लौटे; न उनकी कोई ख़बर ही मिली। अतएव स्कोबेल्फ ने समझा कि कुरोपाटकिन का भेजा जाना व्यर्थ हुआ; उनको कामयाबी नहीं हुई। यह समझ कर वे एक अन्य पुरुष को उसी काम पर भेजने का विचार कर रहे थे कि अकस्मात् एक ज्वर से पीड़ित, घायल और भूखे आदमी ने उनके खेमें में प्रवेश किया। ये आगन्तुक कुरोपाटकिन थे। वे अपने साथ जो काग़ज़ात लाये थे और जिन बातों का पता उन्होंने लगाया था वे बड़े महत्त्व की थीं। इस पर स्कोबेल्फ को सीमातित सन्तोष हुआ; वे

अपनी पहली अप्रसन्नता को भूल गये। कुरोपाटकिन की योग्यता, साहस, बुद्धि और कौशल को देख कर वे चकित हो उठे। उस दिन से वे कुरोपाटकिन को अपना मित्र समझने लगे। उसी दिन से कुरोपाटकिन की उन्नति पर उन्नति होनी शुरू हुई। थोड़े ही समय में कुरोपाटकिन स्कोबेल्फ के दाहिने बाहु होगये और जिस जिस युद्ध में स्कोबेल्फ ने सेना-नायकत्व किया उस उसमें कुरोपाटकिन ने अपने रण-चातुर्य से उन्हें बहुत ही ख़ुश किया।

ताशक़न्द पर जब रूसी सेना ने क़ब्ज़ा किया तब कुरोपाटकिन वहाँ हाज़िर थे। जिस समय ख़ोकन्द का पतन हुआ उस समय भी वे वहीं पर थे। जब बोखारा के अमीर की ४०,००० फ़ौज को सिर्फ़ ४,००० रूसी फ़ौज से हार खाना पड़ा तब वे रूसी सेना ही के साथ थे। सात दिन तक बराबर युद्ध करने पर रूसी फ़ौज ने सङ्गीनों के बल खोजण्ट पर धावा किया और वहाँ से दुश्मन को मार भगाया तब भी कुरोपाटकिन वहाँ उपस्थित थे। जिस समय समरक़न्द का फाटक खोला गया और तैमूर की इतिहास-प्रसिद्ध राजधानी के भीतर रूस के ८००० सिपाही प्रवेश कर गये, उस समय भी कुरोपाटकिन वहाँ थे! परन्तु इन युद्धों में शामिल होना कुरोपाटकिन ने अपने लिए कोई प्रशंसा की बात नहीं समझी। ख़ीवा और मर्व में उन्होंने भीम विक्रम दिखलाया। यह करके भावी रूस और टर्की के युद्ध के लिए वे तैयार हुए। उस युद्ध में कुरोपाटकिन ने जो वीरता दिखाई उसकी गवाही इतिहास दे रहा है।

तुर्की युद्ध में कुरोपाटकिन ने साहस और शौर्य के ऐसे ऐसे काम किये जिनको देख कर जनरल स्कोबेल्फ तक को

दाँत के नीचे उँगली दबानी पड़ी। एक बार युद्ध में स्कोबेल्फ के जितने शरीर-रक्षक और सहकारी थे सब मारे गये; बच गये केवल कुरोपाटकिन। एक अन्य महा भीषण युद्ध में घण्टे ही भर में ३००० रूसी कट कर ज़मीन पर गिर गये, परन्तु कुरोपाटकिन के वीर हृदय पर इसका ज़रा भी असर न हुआ। उल्टा उनका उत्साह द्विगुणित हो गया। सिर्फ़ ३०० सिपाही लेकर वे तुर्कों के एक मोरचे पर टूट पड़े और उसे विजय कर लिया। परन्तु उन ३०० में से सिर्फ़ कुछ ही योद्धा जीते बचे। उन बचे हुओं में कुरोपाटकिन भी थे।

तुर्क़-रूसी युद्ध में एक बार वे घायल होकर रात भर मुर्दों के बीच में पड़े रहे। लोगों ने उनको भी मुर्दा ही समझा। परन्तु दूसरे दिन वे अपने पैरों चल कर अपनी सेना से जा मिले। उनके बदन पर अनगिनत घावों के निशान हैं। उन्होंने समर-भूमि में सैकड़ों योद्धाओं को अपने हाथ से मार गिराया है।

१८ वर्ष की उम्र में कुरोपाटकिन सेना में भरती हुए थे। इस समय इनकी उम्र ५६ वर्ष की है। ३४ वर्ष की उम्र में वे मेजर जनरल हुए थे और अब ६ वर्ष से आप रूस के "मिनिस्टर आव वार" अर्थात्—युद्ध के प्रधान मन्त्री हैं। आप जापान के साथ युद्ध करने के ख़िलाफ़ थे और अब भी हैं। परन्तु उन की राय नहीं मानी गई। जिसका फल, इस समय, रूस और लड़ने की राय देनेवाले उसके युद्धप्रिय सलाहकार चख रहे हैं।
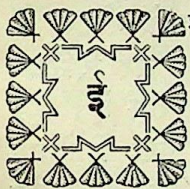
कुरोपाटकिन ने जो काम किया अच्छी तरह से किया। सख़्त से सख़्त मिहनत से वे कभी नहीं डरे। भय क्या चीज़ है, वे जानते ही नहीं। युद्ध से फुरसत होने पर उन्होंने एशिया के उजाड़ और रेतीले मैदानों में हज़ारों कोस दूर का सफ़र

किया और ऐसी ऐसी बातों का पता लगाया जिनका पता लगाना औरों के द्वारा नितान्त असम्भव था। एक बार घोड़े की पीठ पर उन्होंने २५०० मील का रास्ता तै किया। यह रास्ता ऐसे जङ्गलों के भीतर से था जो अगम्य समझे जाते थे. और जहाँ पद पद पर असभ्य तातारियों से लड़ना-भिड़ना पड़ता था। इस काम को भी उन्होंने बड़ी योग्यता से किया। इसके अनन्तर कशग़ारिया नामक प्रदेश के ऊपर उन्होंने एक पुस्तक लिखी जो उस समय अनमोल समझी गई। उस समय तक मध्य एशिया के विषय में लोग बहुत ही कम ज्ञान रखते थे। कुरोपाटकिन की किताब से उस ज्ञान की विशेष वृद्धि हुई। उसे पढ़ कर रायल ज्योग्राफिकल सोसाइटी ने कुरोपाटकिन को एक पदक प्रदान किया।

ऐसे जनरल कुरोपाटकिन को रूस के राजेश्वर ज़ार ने सुदूर पूर्ववर्ती देश में भेजी गई स्थल गामिनी रूसी सेना का प्रधान नायक नियत किया। युद्ध-भूमि में आपको पहुँचे बहुत दिन हुए। सेंट पीटर्सवर्ग से प्रस्थान करते समय, सुनते हैं, आपने अपनी पहली बहादुरी का स्मरण करके बहुत गर्वोक्तियाँ कही थीं। परन्तु अभी तक आपकी एक भी गर्वोक्ति सत्य नहीं निकली। आपकी सेना को जापान परास्त करता चला जा रहा है; क़िले और शहर, एक के बाद एक लेता चला जा रहा है; और अपने लोकोत्तर शौर्य, वीर्य तथा पराक्रम से संसार को चकित करते हुए सब के मुँह से निकले हुए प्रशंसा-पीयूष से अपने कर्णरन्ध्रों को आप्लावित करता चला जा रहा है।

[जूलाई १९०४

——

१७—सर विलियम वेडरबर्न

ईश्वर की कृपा से मनुष्य-जाति में कभी कभी ऐसे अलौकिक गुण-सम्पन्न पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं जिनके चरित देखने, पढ़ने और मनन करने तथा जिनके सारगर्भित सदुपदेशों के अनुसार बर्ताव करने से संसार का बहुत कल्याण होता है। हमारे चरित-नायक भी एक ऐसे ही महानुभाव हैं। आप दिसम्बर १९१० की प्रयागवाली कांग्रेस के सभापति थे। एक बार पहले भी आप इस पद की शोभा बढ़ा चुके हैं।

जिस कुटुम्ब में ये उत्पन्न हुए हैं वह ऐतिहासिक विचार से बहुत प्रसिद्ध और पुराना है। इस कुटुम्ब का वृत्तान्त १२९६ ईसवी से बराबर इङ्गलेंड के इतिहास में मिलता आता है। इनके कुटुम्बी सदा से राजनैतिक विषयों में योग देते आये हैं। इसीलिए राजनैतिक विषयों में योग देना आपके लिए स्वाभाविक बात है। आपका जन्म २५ मार्च १८३८ ईसवी को

स्काटलैंड देश की प्रसिद्ध राजधानी एडिनबरा में हुआ था। आप सर जान वेडरवर्न के तृतीय पुत्र हैं। भारतवर्ष से आप का सम्बन्ध कई पीढ़ियों से चला आता है। आपके पिता ने बम्बई की उच्च राजकीय सेवा में; १८०७ ईसवी में प्रवेश किया और ३० वर्ष तक भारत वर्ष में रहे। आपके ज्येष्ठ भ्राता १८४४ ईसवी में बङ्गाल के उच्च राजकीय सेवा विभाग में आये और १८५७ ईसवी तक यहाँ रहे। सर विलियम वेडरबर्न भी इसी विभाग में घुसे और इसकी परीक्षा में बड़ी योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुए। आपका नम्बर उत्तीर्ण विद्यार्थियों में तीसरा था। पास होने पर आपको बम्बई हाते में १८६० ईसवी में नौकरी मिला। १८८७ ईसवी तक आप वहाँ रहे।

जब सर विलियम ने १८८७ ईसवी में नौकरी छोड़ी, बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने एक ख़ास गैज़ट में आपके नौकरी से अलग होने पर शोक प्रकट करते हुए कहा—"सर विलियम वेडरबर्न का सम्बन्ध गवर्नमेंट से बहुत घनिष्ट रहा है। कुछ दिनों तक वे अस्थायी चीफ़ सेक्रेटरी रहे और कुछ दिनों तक कौंसिल के मेम्बर। इन दोनों पदों पर रहकर उन्होंने गवर्नमेंट को अपने उत्तम विचारों से बड़ी सहायता दी। उनके शिक्षा-विषयक उत्साह ने और उनके इस देश के नैतिक और आर्थिक उन्नति विषयक विचारों ने उन लोगों के दिलों में घर कर लिया जिनके लिए उन्होंने इतना परिश्रम किया है।" यह सम्मान तो बम्बई सरकार की ओर से हुआ; परन्तु क्या आप समझते हैं कि बम्बई के बुद्धिमान् सज्जनों ने देश के ऐसे शुभ-चिन्तक का यथोचित सम्मान नहीं किया। नहीं, बम्बई-निवासियों ने उनकी यादगार के लिए एक बहुत बड़ा चन्दा किया, जिसमें से कुछ रुपये से सर विलियम का चित्र तैयार कराया गया जो

अब तक बम्बई की प्रेसीडेन्सी असोसिशन के कमरों को शोभा बढ़ा रहा है। बाक़ी रुपया इस असोसियेशन को एक ऐसे फंड खोलने की ग़रज़ से दे दिया गया जिसकी आय से बम्बई-वासियों की राजनैतिक दशा का सुधार हो।

नौकरी की हालत में आप बड़े उच्च पदों पर रहे हैं, जैसे, गवर्नमेंट के सहायक मन्त्री, हाईकोर्ट के रजिस्ट्रार, सिन्ध के जुडिशल कमिश्नर, गवर्नमेंट के न्याय, नीति और शिक्षा विभागों के मन्त्री और हाईकोर्ट के जज। जब आप न्याय-विभाग के अधिकारी हुए तब आपने अपने उन विचारों को कार्यक्षेत्र में लाने का उपक्रम किया जो पहले से आपके दिल में जमे हुए थे। आपका ख़याल था कि भारतवर्षीय राजों की स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। क्योंकि, आपके विचारानुसार भारतवासी एक उत्तम देशी राज्य में अधिक आनन्द से रह सकते हैं। इसलिए ज्योंही आप इस पद पर आये, बम्बई के गवर्नर की सहायता से निम्नलिखित कार्य किये:—

(१) राजकोट में एक "राजकुमार कालेज" खुलवाया। इस कालेज की स्थापना से आपका यह अभिप्राय था कि राजे-महाराजे उत्तम शिक्षा पाकर अपने राज्य-कार्य करने के योग्य हों।

(२) भावनगर में आपने सम्मिलित शासन की प्रथा चलाई। अब तक राजा के बालिग़ होने तक राज्य एक पोलि-टिकल एजेंट के सुपुर्द कर दिया जाता था, नतीजा यह होता था कि राज्य का रूप ही प्रायः बदल जाया करता था। इसलिए सम्मिलित शासन की प्रथा चलाई गई। मतलब यह कि राजा की अनुपस्थिति में राज्य का रूप न बदले और गवर्नमेंट की नीति के अनुसार काम भी हो।

(३) काठिवाड़ के लिए ग्रासिया अदालत की स्थापना, रियासतों के झगड़े तै करने के लिए की गई।

सर विलियम वेडरबर्न ने इस देश के शासन में बड़ी ही सहानुभूति दिखलाई। वे यद्यपि विदेशी हैं, तथापि उन्होंने ऐसे काम किये हैं कि इस देश के वासी उनकी सेवा को कदापि नहीं भूल सकते। श्रीमान् दादाभाई नौरोजी, माननीय रानाडे, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, माननीय तैलङ्ग, माननीय बदरुद्दीन तैय्यब जी, बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनरजी, माननीय गोखले, माननीय मनदमोहन मालवीय आदि सबसे आप भलीभाँति परिचित रहे हैं। जब भारतवर्ष के सुधार का ख़याल आपको आया तब आपने इन लोगों की सहायता से पहले इस बात का निश्चय किया कि दाल में कहाँ काला है। आप ने बहुत जल्द इस बात को जान लिया कि इस देश की दरिद्रता ही एक मात्र सुधार की बाधक है। आपकी राय में इस जीर्ण रोग का इलाज यह निश्चित हुआ कि सरकार कर लेना कम करे, काश्तकारों को रुपया थोड़े सूद पर दिया जाय, और आपस के झगड़े अदालत में तै होने के बदले आपस में तै किये जायँ। इसलिए आपने तीन प्रस्ताव किये—

(१) दक्षिण में इस्तमरारी बन्दोबस्त

(२) कृषि-बैंकों की स्थापना

(३) पञ्चायतों की स्थापना

प्रथम प्रस्ताव के विषय में आपने मनुस्मृति के आधार पर यह दिखलाया कि प्रजा अपनी आमदनी का राजांश रुपये के रूप में न देकर अनाज अथवा और वस्तु के रूप में दे और वह अंश आमदनी का सोलहवाँ हिस्सा नियत किया जाय।

आपने अहमदनगर के निकट एक गाँव में इसका तजरिवा करने का प्रयत्न भो किया। यह प्रस्ताव सबको रुचिकर हुआ। पर गवर्नमेंट ने इसे अस्वीकार किया। दूसरा प्रस्ताव भी सब लोगों को पसन्द आया। पूने में एक सर्वसाधारण की सभा कलक्टर की अध्यक्षता में हुई, कृषि-बैंक स्थापन करने के प्रस्ताव पास हुए; और एक कमेटी नियत की गई। कमेटी ने अपने प्रस्तावों को सर जेम्स फरगुसन के सामने पेश किया। गवर्नर साहब ने उन प्रस्तावों को पसन्द किया और भारतवर्ष की गवर्नमेंट को भेजने की प्रतिज्ञा की। लार्ड रिपन उस समय बड़े लाट थे। उन्होंने कमेटी के कथन को सहर्ष स्वीकार किया और इस बात पर राज़ी हो गये कि कुछ गाँवों में एक कमीशन द्वारा प्रजा का क़र्ज़ अदा किया जाय, सरकार इस निमित्त ६॥ लाख रुपया पेशगी प्रजा को दे, और जो कृषि-बैंक खोला जाय उसका रुपया उसी तरह सरकारी अफ़सरों द्वारा वसूल किया जाय जैसे सरकारी रुपया वसूल किया जाता है। भारत गवर्नमेंट के आग्रह करने पर बम्बई-गवर्नमेंट ने इस प्रस्ताव को कार्य्य में परिणत करने का भार अपने ज़िम्मे ले लिया और ३१ मई १८८४ ईसवी को वाइसराय और कौंसल के मेम्बरों के हस्ताक्षरों से विलायत को इस विषय पर एक पत्र भेजा गया। परन्तु सेक्रेटरी आव् स्टेट के दफ़्तर से कुछ हीला हवाला होने के बाद १८८७ ईसवी में पारलियामेंट ने इस बात की इजाज़त देने से साफ़ इनकार कर दिया।

तृतीय प्रस्ताव का यह अभिप्राय था कि जबतक पञ्चायतों से फ़ैसला हो सके तबतक कोई मुक़दमा अदालतों में न जाय। पञ्चायत को प्रणाली भारतवासियों को बहुत प्रिय है। वे पञ्च को ईश्वर के तुल्य समझते हैं। इस विचार को कार्य्यक्षेत्र में

लाने के लिए पूने के टाउन हाल में एक बड़ी भारी सभा की गई। फिर एक कमेटी बनी। उसमें सदरआला, पेंशन पाये हुए महक्मे माल के अफ़सर, तीन वकील, दो ख़ज़ानची और एक मंत्री नियत हुए। इस कमेटी ने क़ानून का एक मसविदा तैयार किया। उसका मंशा यह था कि हर एक मुक़दमा पहले जातीय अदालतों के सामने आवे और यदि कोई उनके फ़ैसले से असन्तुष्ट हो तो दौरे पर रहनेवाले सदरआला की अदालत में अपील करे। इस प्रस्ताव को बम्बई की गवर्नमेंट ही ने अस्वीकृत किया।

सर विलियम शिक्षा के, विशेष कर स्त्री-शिक्षा के, बड़े पक्षपाती हैं। आपका सम्बन्ध सिन्ध से कुछ दिनों तक था। उसके नाते कराची में १८८० में, "वेडरबर्न-हिन्दू-कन्या पाठशाला" खोली गई थी। १८८४ ईसवी में आपने श्रीमान् महादेव गोविन्द रानाडे की सहायता से पूने में भी कन्याओं को उच्च शिक्षा देने के लिए एक पाठशाला स्थापित की। आपने अपने भाई सर डेविड की यादगार में १०,००० रुपये देकर इस शाला के लिए छात्रवृत्तियाँ नियत कीं।

काँग्रेस के जन्मदाताओं में से आप भी एक हैं। मिस्टर ह्यूम और मिस्टर बैनर्जी के साथ आपने भारत की राष्ट्रीय सभा का प्रथम अधिवेशन, बम्बई में, किया। लार्ड डफ़रिन उस समय बड़े लाट थे। उनसे प्रार्थना की गई कि लार्ड री को जो बम्बई के गवर्नर थे, आज्ञा दी जाय कि प्रथम राष्ट्रीय सभा का सभापतित्व स्वीकार कर लें। परन्तु यद्यपि राष्ट्रीय सभा से लार्ड डफ़रिन ने सहानुभूति प्रकट की, तथापि यह आज्ञा देना उन्होंने उचित न समझा। १८८९ ईसवी में आप राष्ट्रीय

सभा के पाँचवे जलसे के सभापति चुन गये। इस जलसे में राष्ट्रीय सभा के विषय में आपने कहा—"मैं आदि से ही उस आन्दोलन को देख रहा हूँ जिसका परिणाम यह राष्ट्रीय सभा है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह आन्दोलन अपनी उत्पत्ति, उद्देश और पद्धति में अत्यन्त शुभङ्कर है। मैं भली भाँति जानता हूँ कि ब्रिटिश शासकों के उत्तम उद्योगों का यह उत्तम फल है। उच्च शिक्षा और स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकार जो भारतवासियों को ख़ुशी से दिये गये उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। इस आन्दोलन का उद्देश राष्ट्रीय जीवन को पुनरुज्जीवित करना और देश की आर्थिक दशा को सुधारना है। हमारी काम करने की रीति खुली हुई है, क़ानून के, मर्यादा के भीतर हैं और सब तरह गवर्नमेंट की न्यायशीलता पर अवलम्बित है।"

१८८९ ईसवी की राष्ट्रीय सभा में आपके साथ भारतवर्ष के शुभचिन्तक मिस्टर ब्रेडला भी आये थे। १९०४ ईसवी में फिर आप सर हेनरी काटन के साथ भारतवर्ष में पधारे थे। सर हेनरी उस साल की कांग्रेस के सभापति थे। नौकरी छोड़ कर जब आप विलायत गये तब वहाँ भी आपने भारतवासियों की उन्नति के लिए काम करना शुरू कर दिया। वहाँ आपने राजनैतिक आन्दोलन का नया ढंग निकाला। आपने सोचा कि यद्यपि सैक्रेटरी आव् स्टैट तक सीधे पहुँचना कठिन है तथापि यदि पारलियामेंट के द्वारा उन तक पहुँचने का उद्योग किया जाय तो सफलता की बहुत कुछ आशा है। अतः भारतवर्ष के विषय में जो कुछ अब कहा जाय वह विलायत के सर्व साधारण जनों से कहा जाय। सर्व साधारण ही के नेता पारलियामेंट (हाउस आव् कामन्स) में बैठते हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं। उनकी सिफ़ारिशों का विचार सेक्रे-

टरी आव् स्टेट को करना ही पड़ेगा। अतः विलायत में ब्रिटिश कमेटी नाम की एक सभा स्थापित हुई, जिसके सभापति सदा आप ही रहे। उन्हीं के आग्रह से विलायत में भी भारतवासियों ने राजनैतिक आन्दोलन करना शुरू कर दिया। १८९३ ईसवी में आप हाउस आव कामन्स के मेम्बर चुने गये और १९०० ई० तक मेम्बर रहे।

सर विलियम ने भारतवर्ष के लिए एक लाख रुपये से अधिक अपनी जेब ख़ास से खर्च किया। जो कुछ उनके दक्षिण-हस्त ने दिया उसको वाम हस्त ने नहीं जाना। आपने तन, मन, धन से भारत की दशा सुधारने की चेष्टा की।

जिस समय आप पारलियामेंट के मेम्बर थे उस समय आपने एक पारलियामेंट से सम्बन्ध रखनेवाली कमिटी स्थापित की थी। उसमें १२० मेम्बर थे। उसका उद्देश पारलियामेंट में भारत सम्बन्धिनी बातों पर ध्यान रखने का था। इस कमिटी के भी आप सभापति चुने गये। इसी कमेटी की सहायता से १८९५ ई० में श्रीमान् नौरोजी भारत-सम्बन्धी व्यय का विचार करने के लिए एक रायल कमीशन नियत कराने में फलीभूत हुए थे।

अख़बारों और व्याख्यानों के द्वारा भी आपने भारत के लिए बहुत काम किया है। आपकी अध्यक्षता में ब्रिटिश कमिटी ने "इण्डिया" नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। पारलियामेंट में भारतविषयक जो बातें होती हैं उनकी रिपोर्ट उसमें रहती है। अन्यान्य बातें भी भारतवर्ष के विषय की उसमें रहती हैं, जिससे विलायत वालों को इस देश का हाल भली-भाँति मालूम होता रहता है।

आप सदा इस बात का आग्रह किया करते हैं कि विचारशील शिक्षित भारतवासी विलायत जाया करें और वहाँ वालों को अपनी दशा जताने के लिए व्याख्यानों द्वारा भारतवर्ष का सच्चा ज्ञान प्राप्त करावें।

सर विलियम भारत के उन थोड़े से शासकों में से हैं जो इस देश वालों की क़दर करते हैं और उनसे प्रेमभाव रखते हैं। जिस समय आप इस देश में उच्च अधिकारी थे उस समय प्रत्येक विषय में आप प्रजा की भलाई का ख़याल रखते थे। आप भारतवासियों से ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कोई बराबर वालों के साथ करता हो। हाल में कई वर्ष हुए सर विलियम वेडरवर्न का देहान्त होगया।

[जनवरी १९११
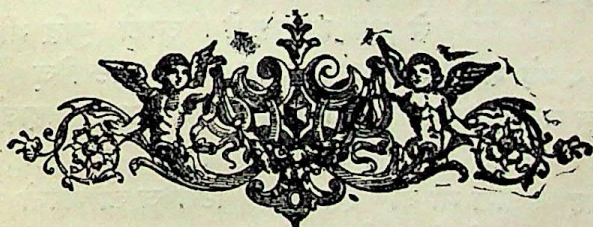
एडमिरल वान टिरपिज़
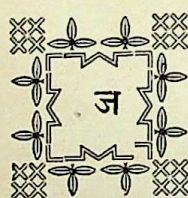
जर्मनी के कुस्ट्रियन नामक मौज़े में टिरपिज़ का जन्म हुआ। उन्होंने यद्यपि अच्छे घराने में जन्म लिया तथापि वह जर्मनी के बड़े घरानों में नहीं गिना जाता था। टिरपिज़ बचपन ही से ख़ूब हृष्ट-पुष्ट थे। उनकी बुद्धि भी तेज़ थी। वे बड़े शरीर थे। अतएव उनके पिता ने टिरपिज़ को एक लड़ाकू जहाज़ पर नौकर करा दिया। उस समय जहाज़ों पर प्रायः "बड़ों का बोलबाला" था। सिफ़ारिशी टट्टू अमीरों ही का वहाँ इजारा सा था। इस कारण टिरपिज़ को अपनी उन्नति करने में कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तथापि अपने स्वाभाविक गुणों के बल पर वे दिन पर दिन उन्नति करते गये। उनके हाथ में अधिकार आने पर अमीरों की दाल न गलने लगी। यहाँ तक कि ख़ुद कैसर तक की सिफ़ा-

रिश की वे परवा न करने लगे। टिरपिज़ ने जहाज़ी समर-विद्या का यथेष्ट ज्ञान सम्पादन कर लिया था। काम करने की उमङ्ग उनमें ख़ूब थी। उद्योगी भी बहुत थे। दूसरों पर किस प्रकार अपना रौब जमाना चाहिए, यह तो वे ख़ूब ही जानते थे। इसी कारण वे बीस ही वर्ष की उम्र में लेफ्टिनेंट हो गये। पाँच वर्ष बाद उन्हें लेफ्टिनेंट कमान्डर का पद मिला और थोड़े ही दिनों बाद वह रियर एडमिरल के पद पर प्रतिष्ठित किये गये। जिस दिन से टिरपिज़ ने टारपेडो नामक जहाज़नाशक नावों का जोड़ा तैयार किया उस दिन से कैसर उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखने लगे। टिरपिज़ ही ने कियाचू (चीन) में जर्मन उपनिवेश की स्थापना की।

जर्मनी की जहाज़ी बेड़े की उन्नति का एक मात्र कारण टिरपिज़ ही हैं। इस बेड़े को उन्नत और बलशाली करना वे जर्मनी के लिए बहुत ही आवश्यक समझते हैं। यहाँ तक कि जो लोग जहाज़ी बेड़े की विशेष उन्नति करने के पक्ष में नहीं उनको वे देश द्रोही तक कह डालते हैं।

जर्मनी के जहाज़ी बेड़े की उन्नति के लिए टिरपिज़ ने अत्यन्त परिश्रम किया। उपाय भर उन्होंने कुछ भी कसर नहीं की। उन्होंने अख़बारों में लेख लिखे, सभा समितियाँ स्थापित कीं, जहाज़ी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था कराई, पुस्तकें प्रकाशित कराई और व्याख्यान दिलवाये। अँगरेज़ों का जहाज़ी बेड़ा दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। अतएव विद्यार्थियों को इग्लेंड भेज भेज कर अँगरेज़ों के जहाज़ी बेड़े का हाल जानने और उनका ज्ञान प्राप्त करने की भी उन्होंने बड़ी चेष्टा की। फल यह हुआ कि आज जर्मनी के टारपेडो, ड्रेडनाड और पन-डुब्बी नावों की धूम मच रही है।

टिरपिज़ में अपने पक्ष की बात के प्रतिपादन करने की शैली अपूर्व है। प्रतिपक्षियों के विचारों का खण्डन और अपने मतों का मण्डन जब वे करने लगते हैं तब जी चाहता है कि उन्हीं की बात मानलें। अपने तथा अन्य राष्ट्रों के जहाज़ी बेड़े के विषय का ज्ञान वे पूरा-पूरा रखते हैं। किसी देश में कितने जहाज़ हैं, उनके लिए वहाँ कितना ख़र्च किया जाता है, वहाँ के मुख्य अधिकारी कौन कौन हैं, इत्यादि सभी बातें उन्हें मालूम हैं।

क्रोध तो उन्हें छू तक नहीं गया। वे सदा हँसमुख देख पड़ते हैं। पार्लियामेंट में क़ानूनी मसविदे पेश करते समय वे सदा कहा करते हैं कि—"किसी बात को जिस दृष्टि से मैं देखता हूँ उसी दृष्टि से जबतक सभासद न देखेंगे तबतक उन्हें उनके कथन की यथार्थता न मालूम होगी।"

एडमिरल टिरपिज़ रोज़ सवेरे सात बजे आफ़िस में पहुँचते हैं। जाते ही वे काम में भिड़ जाते हैं। पार्लियामेंट में अपने क़ानूनी मसविदे पास हो जाने का उन्हें इतना निश्चय रहता है कि मंजूरी मिलने के पहले ही वे उन मसविदों के सम्बन्ध के काम कम्पनियों को ठीके पर दे दिया करते हैं। उनके काम से प्रसन्न होकर कैसर ने उन्हें 'आर्डर आव दी ब्लैक ईगल' (Order of the Black Eagle) नाम की प्रतिष्ठित पदवी प्रदान की है। अच्छे कामों के लिए उन्हें कितने ही पदक दिये गये हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका सम्मान किया गया है।

अबतक वही जर्मनी के जहाज़ी बेड़े के प्रधान अधिकारी थे। पर हाल में उन्हें अपना पद त्याग करना पड़ा है। सुनते

हैं, सबमैरीन नामक जहाज़-नाशनी (पनडुब्बी नावों द्वारा मित्र त्रितय के जहाज़ नाश करने की निन्द्य नीति के सम्बन्ध में कैसर से उनकी अनबन हो गई है। इसी से उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है।

टिरपिज़ जैसे निपुण जलयुद्ध विशारद और राजनीतिज्ञ हैं वैसे ही दूरदर्शी भी हैं। वर्तमान महासंग्राम रूपी विशाल और जटिल वट-वृक्ष का सूक्ष्म बीज टिरपिज़ ही का बोया हुआ है।

टिरपिज़ सत्रह वर्ष तक एडमिरल के पद पर रहे। बिस्मार्क को छोड़कर इतनी अधिक अवधि तक कोई भी जर्मन अधिकारी आजतक इतने बड़े पद पर नहीं रहा। जर्मनी और इङ्गलैण्ड, दोनों की मित्रता पर पानी फेरने का दोष टिरपिज़ ही पर है।

टिरपिज़ अब बुड्ढे हो चले हैं। उनकी उम्र इस समय ६८ वर्ष की है। जर्मनी के वर्तमान जहाज़ी बेड़े को टिरपिज़ का जीता-जागता स्मारक ही समझिए।

[जूलाई १९१६
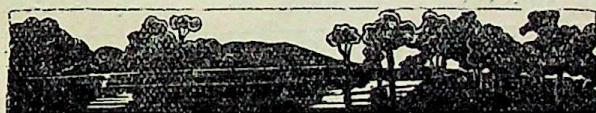
१९—मुक्ति-फौज के अधिष्ठाता जनरल बूथ
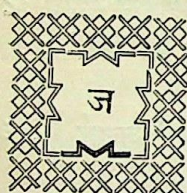
जनरल बूथ संसार के उन महान् पुरुषों में से थे जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी ने जन्म दिया। वर्तमान समय में, जबकि संसार में चारों ओर पदार्थ-विज्ञान की महिमा के गीत गाये जा रहे हैं और लोग भौतिक उन्नति के मैदान में क़दम बढ़ाये जाना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जनरल बूथ, ने अपने बुद्धि-बल से नहीं—क्योंकि उनकी बुद्धि में कोई विशेषता न थी--किन्तु अपने सुदृढ़ चरित्र-बल से मुक्ति-फ़ौज नाम की संसार व्यापिनी धार्मिक संस्था को जन्म देकर तथा उसे अच्छी तरह चला कर ऐसा महान् काम किया जिससे उनके चरित्र की महत्ता अच्छी तरह सिद्ध होती है। उन्हें अपने इस काम में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, कटुवचन और गालियाँ सुननी पड़ीं, और उनके सहकारियों को जुरमाना देना तथा जेल तक जाना पड़ा; परन्तु

वे अपने उद्देश से कभी न टले। अपने साथियों सहित — और खूबी तो यह थी कि उनके साथी भी उन्हीं के सदृश दृढ़ मिले थे, वे अपना काम करते ही गये; और, अन्त में, फल यह हुआ कि सारी कठिनाइयों ने उनके आगे सिर झुका दिया। जो उनका पहले अपमान करते थे वही उनका आदर करने लगे। बड़े बड़े राजा-महाराजों तक ने उनका सम्मान किया और दीन-हीन हृदय के तो वे स्वयं ही राजा बन गये।

बूथ महाशय का जन्म, १८२९ में, नारिङ्घम नगर में हुआ था। उनके पिता एक गिरजाघर में काम करते थे। उनके पिता का सम्बन्ध था तो गिरजाघर से, परन्तु वे परलोक बनाने से इस लोक का बनाना अधिक अच्छा समझते थे। इसलिए वे व्यापार द्वारा धन एकत्र करने की चिन्ता में अधिक रहते थे। वे थे तो विशेष शिक्षित नहीं, परन्तु हिसाब-किताब रखना बहुत अच्छा जानते थे। पिता का यह गुण पुत्र को भी प्राप्त हुआ। जनरल बूथ भी बड़े ही हिसाबदाँ निकले। अन्य गुण उन्हें अपनी माता से मिले। उनकी माता बड़ी ही सुशीला और धार्मिक स्त्री थीं। माता और पुत्र में प्रेम भी बहुत था। एक दूसरे को देख कर जीते थे। उनका हृदय बड़ा ही उदार था। वे दीन-हीन लोगों के दुःख न देख सकती थीं। उनका विश्वास था कि कोई मनुष्य, चाहे कितना ही पतित क्यों न हो, सद्व्यवहार से वह अच्छा बनाया जा सकता है। उन्होंने यह विचार बचपन ही में बूथ के हृदय में कूट कूटकर भर दिया था। माता की इस शिक्षा का फल यह हुआ कि पुत्र ने बड़े होने पर मुक्ति फ़ौज द्वारा पतितों का उद्धार करके इस विचार की सत्यता अच्छी तरह सिद्ध कर दी।

बूथ का लड़कपन ग़रीबी में कटा। एक छोटी सी पाठशाला में थोड़ा-बहुत पढ़ लिख कर, १८५० में, वे भी पादड़ी हो गये। १८६१ में, उन्होंने अपने इस पद को त्याग दिया। इस बीच में वे अपना व्याह कर चुके थे और उनके चार सन्तानें भी हो गई थीं। वे सपत्नीक नगर नगर धर्मोपदेश देते फिरे। अन्त में, १८६४ में, वे लन्दन लौट आये। वहाँ उन्होंने एक धर्म-सभा स्थापित की। इस सभा का कई बार नामकरण-संस्कार हुआ। अन्तिम नाम के पहले उसका नाम था "क्रिश्चियन मिशन" (Christian Mission) मज़दूर और अन्य निम्न श्रेणी के लोग ही उसके सदस्य थे। बूथ उन्हीं लोगों की सहायता से निम्न श्रेणी के लोगों में धर्मोपदेश देते थे। १८७८ में इस सभा ने अपना अन्तिम, अर्थात् वर्तमान रूप धारण किया। उसका नाम रक्खा गया—"मुक्ति-फ़ौज" (Salvation Army) और उसके नेता बने "जनरल" बूथ।

पहले लोगों ने मुक्ति-फ़ौज का बड़ा ही प्रबल विरोध किया। इस फ़ौज के "सैनिकों" का नया ढङ्ग और नया रङ्ग देखकर लोग भयभीत से हो गये। जहाँ ये "सैनिक" गा गा कर धर्म्मोपदेश करना चाहते वहाँ लोग इतना ऊधम मचाते और इन्हें इतना तङ्ग करते कि लाचार होकर इन लोगों को वहाँ से खिसक जाना पड़ता। लड़के इन्हें राह चलते चिढ़ाते, लोग इनकी पोशाक की हँसी उड़ाते, और गली-गली, घर-घर में इनके से बाजे बजा बजा और गा गा कर इनके उपदेश देने के ढँग का मखौल उड़ाते। कोई इन्हें पागल कहता, कोई मूर्ख। कोई इन्हें ढोंगी बतलाता, कोई ठग। केवल इतना ही नहीं, लोगों ने भी एक फ़ौज तैयार की जिसका नाम रक्खा :— "Skeleton Army" (ठठरी फ़ौज) इसका उद्देश "मुक्ति-

ाज' को तोड़ देना था। बहुत दिनों तक ऐसी हो अवस्था
ही। अन्त में लोग इनकी दृढ़ता और सुजनता के क़ायल हो
ये। बड़े बड़े विज्ञानवेत्ताओं और राजपुरुषों तक ने इनके
ामों को सराहा। धर्म्मसंस्थाओं के नेता भी आगे बढ़े। उन्हों-
"मुक्ति-फ़ौज" की प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया। स्वर्गीय
म्राट् एडवर्ड, महारानी अलेगज़ेन्ड्रा, जापान के भूतपूर्व
म्राट्, संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रेसीडेन्ट आदि बड़े बड़े
ुषों ने जनरल बूथ और उनके कामों की जी खोल कर
शंसा की।

मुक्ति फ़ौज का काम इंगलेंड ही में परिमित न रहा। वह
ीघ्र ही संसारव्यापी हो गया। १८८६ में, संयुक्त राज्य अमे-
का में, और १८८१ में आस्ट्रेलिया में, उसकी शाखायें
ापित हो गईं। थोड़े ही दिनों में योरप के अन्य राज्यों में
मुक्ति-फ़ौज के अड्डे बन गये। १९११ के सितम्बर मास तक
क्ति-फ़ौज का प्रचार संसार के भिन्न भिन्न ५९ देशों में होगया
ौर उसकी पुस्तकें लगभग ३४ भाषाओं में छप गईं। इस
समय उसकी शाखायें ८५८२ स्थानों में हैं, परन्तु उसका केन्द्र
लन्दन ही में है। केवल ब्रिटिश द्वीपों ही में उसके लगभग सवा-
लाख "सैनिक" और दो करोड़ की सम्पत्ति है। उसकी
ओर से "All The World" नाम का एक मासिक पत्र भी
निकलता है, जिसमें सब शाखाओं का हाल प्रकाशित होता
रहता है।

हमारे देश में भी मुक्ति-फ़ौज के कितने ही अड्डे हैं। यहाँ
इसका काम बड़ी धूम से चल रहा है। यहाँ इस फ़ौज के ढाई
हज़ार तो केवल अफ़सर ही हैं। अन्य काम करनेवालों की

संख्या लाखों तक पहुँची है। हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजरा[illegible] बँगला, गुरमुखी, तामिल, तिलेगू आदि कितनी ही भारत[illegible] भाषाओं में उसकी पुस्तकें छप चुकी हैं। फ़ौज की ओर से कित[illegible] ही प्रारम्भिक पाठशालायें खुल चुकी हैं, जिनमें दस हज़ार[illegible] अधिक बच्चे शिक्षा पाते हैं। गाँवों में छोटी छोटी बैंकें खो[illegible] गई हैं; और इस प्रकार किसानों से मेल बढ़ाया गया[illegible] मुक्ति-फ़ौज के कितने ही सैनिक देहात में रहने और वहाँ दु[illegible] नदारी करने लगे हैं। भारत की औद्योगिक उन्नति की त[illegible] भी इस फ़ौज का ध्यान है। सैकड़ों करघे जुलाहों को कम मू[illegible] पर दिये गये हैं और कपड़ा बुनना सिखलाने के लिए कितनी[illegible] पाठशालायें भी खोली गई हैं। क़ैदियों और अन्य ज़रायमपे[illegible] जातियों के सुधार में इस फ़ौज को अच्छी सफलता प्राप्त हुई[illegible] दुर्भिक्ष के समय भी मुक्ति-फ़ौज वालों ने बुभुक्षित लोगों[illegible] भोजन तथा सस्ते भाव पर अन्न देकर बड़ा काम किया है[illegible] लोग देशी वेश ही में रहते हैं। इसीसे ये इतना काम भी[illegible] सके हैं।

१८९० में जनरल बूथ ने "In darkest England a[illegible] the Way out" नाम की पुस्तक का प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने पतित लोगों की अवस्था सुधारने के कितने ही उपाय बतलाये। लोग उनका काम तो देख ही चुके थे; उनके प्रस्तावों को पढ़ते ही धड़ाधड़ चन्दा दे चले। थोड़े ही दिनों में पन्द्रह लाख रुपये मिल गये। काम आरम्भ हो गया। स्थान स्थान पर आश्रय-हीन लोगों के लिए सेवाश्रम खोल दिये गये। मुक्ति-फ़ौज द्वारा सुधारे गये पतित लोगों के निवास के लिए भी प्रबन्ध किया गया। समुद्र के किनारे और अन्य ग़ैर आबाद स्थानों में वे बसा दिये गये। आश्रयहीन और पतित लोगों

ुक्ति-फ़ौज ने जो काम किया उसका अनुमान इस बात से
ी भाँति किया जा सकता है कि अकेले १९०९ में ६४२५
दमियों ने फ़ौज की शरण ली और २५५९ स्त्रियों और लड़-
कियों ने सेवाश्रम में स्थान पाया। शरण में रहनेवाले लोगों
ने धर्म्म और सदाचरण की शिक्षा दी जाती है और उनसे
ा द्वारा सञ्चालित कारख़ानों में काम लिया जाता है।

जनरल बूथ शायद ही इतने बड़े काम को अकेले कर
उन्हें अपने ही जैसे दृढ़ विश्वासी और निरन्तर परिश्र
नेवाले सच्चे हृदय के साथी न मिलते। उनकी धर्मपत्नी
राइन बूथ ने भी इस काम में उनका साथ दिया। कहा तो
तक जाता है कि यदि देवी केथराइन आरम्भ में दरि-
का सामना करती हुईं अपने पति की सहायता न करतीं
आज संसार में मुक्ति-फ़ौज का अस्तित्व ही न होता। इसमें
ह नहीं कि श्रीमती केथराइन अन्त समय तक मुक्ति फ़ौज
काम बड़े उत्साह से करती रहीं। वे इस आन्दोलन की एक
भ समझी जाती थीं। १८९० में उनका देहान्त हुआ।
से मुक्ति-फ़ौज के काम को बड़ी भारी क्षति पहुँची। अभी
बूथ इस धक्के से सँभलने भी न पाये थे कि उनके ऊपर और
भी कुटुम्बसम्बन्धिनी विपत्तियाँ टूट पड़ीं। उनकी एक लड़की
रेल से कट गई। उनका दूसरा पुत्र उनसे लड़ कर अमेरिका
पहुँचा वहाँ उसने अपने पिता के ढँग का एक नया दल बनाया।
इन सब पारिवारिक दुःखों को बूथ बड़े साहस से सहन करते
और निरन्तर अपना काम करते रहे।

जनरल बूथ बड़ी ही सादगी से रहते थे। वे आहार और
बिहार की उचित सीमा का बहुत ख़याल रखते थे। वे निरा-

मिष-भोजी थे। शराब और
जितने काम थे सब नियत समय प
के कारण ही उनका शरीर सुदृ
अवस्था में भी मोटर गाड़ी द्वारा
में कष्ट-बोध न करते थे।
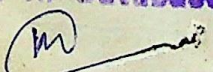
८३ वर्ष की उम्र में, गत २०
रहने के पश्चात, इस मह
लैंड भर में शोक छा गया औ
आदमियों ने उस जातीय शोक में
और अन्य बादशाहों ने मुक्ति-फौ
अपनी समवेदना प्रकट की।

जनरल बूथ के बड़े बेटे, ब्रामवे
पर बैठ कर मुक्ति-फ़ौज का काम चल
फ़ौज के प्रधान नायक हैं।

—०—